कल्याण

वर्ष ३५]   *   *   *   [अङ्क २

रघुपति राघव राजा राम। पतित-पावन सीता-राम ॥
जय जय दुर्गा जय मा तारा। जय गणेश जय शुभ-आगारा ॥

विषय-सूची

कल्याण, सौर फाल्गुन २०१७, फरवरी १९६१

विषय	पृष्ठ-संख्या
१–सरयूतटपर छोटे भाइयोंके साथ भगवान् राम [कविता]	७०१
२–कल्याण ('शिव')	७०२
३–कर्म-मीमांसा (श्रीस्वामीजी श्रीचिदानन्दजी सरस्वती)	७०३
४–पवित्र प्रेम [कविता]	७०७
५–परमार्थ-पत्रावली (श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके पत्र)	७०८
६–योगवासिष्ठ और भगवद्गीता (श्री ग० ना० बोधनकरे एम्० ए०, एल्-एल्० बी०)	७११
७–गीता—एक राजशास्त्र (श्रद्धेय पं० श्री० दा० सातवलेकर महोदय) ...	७१८
८–पागलकी झोली (महात्मा श्रीश्रीसीतारामदास ॐकारनाथजी महाराज)	७२३
९–मधुर	७२७
१०–योगवासिष्ठका मन्तव्य [ज्ञान और कर्म-का समन्वय] (श्रीगोपालजी 'स्वर्णकिरण', एम्० ए०, रिसर्चस्कालर) ...	७२९
११–मेरा हृदय भगवत्कृपाके दिव्य प्रकाशसे आलोकित हो रहा है (कृष्ण) ...	७३१
१२–गीत [कविता] (डा० श्रीहरिवंश-रायजी 'बच्चन')	७३२
१३–उत्तराखण्डकी यात्रा (सेठ श्रीगोविन्द-दासजी, श्रीमती रत्नकुमारी देवी, श्रीगोविन्दप्रसाद श्रीवास्तव) ...	७३३
१४–जीवनका लक्ष्य (विद्यामार्तण्ड डा० मङ्गलदेव शास्त्री)	७३७
१५–वैज्ञानिक संजीवनी [Vaccine Honey] (श्रीविश्वामित्रजी वर्मा) ...	७३८
१६–मांसाहारका तथा गोमांसका घृणित प्रचार	७४४
१७–पतनकारी सिनेमा और गंदे पोस्टरोंका घोर विरोध परमावश्यक	७४५
१८–अभय [कहानी] (श्री'चक्र') ...	७४६
१९–गृहस्थ-जीवनमें शान्तिका मार्ग (श्री-धर्मभानुसुकुमारजी एम्० ए०, शास्त्री, साहित्यरत्न)	७४९
२०–नाम-स्मरणका प्रभाव (पं० श्रीवेणीरामजी शर्मा गौड़, वेदाचार्य)	७५७
२१–भगवत्कृपासे अब मेरा हृदय उत्साह एवं निर्भयतासे छलक रहा है (कृष्ण) ...	७५८
२२–योगवासिष्ठकी राज्य-मोक्ष-प्रदायिनी प्राणायाम-साधना (पं० श्रीरामनिवासजी शर्मा)	७५९
२३–पढ़ो, समझो और करो	७६२

चित्र-सूची

१–भगवान् शिव	(रेखाचित्र) ...	मुखपृष्ठ
२–सरयूतटपर छोटे भाइयोंके साथ भगवान् राम	(तिरंगा) ...	७०१

वार्षिक मूल्य — भारतमें रु० ७.५० — विदेशमें रु० १०.०० (१५ शिलिंग)

जय पावक रवि चन्द्र जयति जय। सत चित आनँद भूमा जय जय ॥
जय जय विश्वरूप हरि जय। जय हर अखिलात्मन् जय जय ॥
जय विराट जय जगत्पते। गौरीपति जय रमापते ॥

साधारण प्रति — भारतमें .४५ — विदेशमें .५६ (१० पेंस)

सम्पादक—हनुमानप्रसाद पोद्दार, चिम्मनलाल गोस्वामी, एम्० ए०, शास्त्री
मुद्रक-प्रकाशक—हनुमानप्रसाद पोद्दार, गीताप्रेस, गोरखपुर

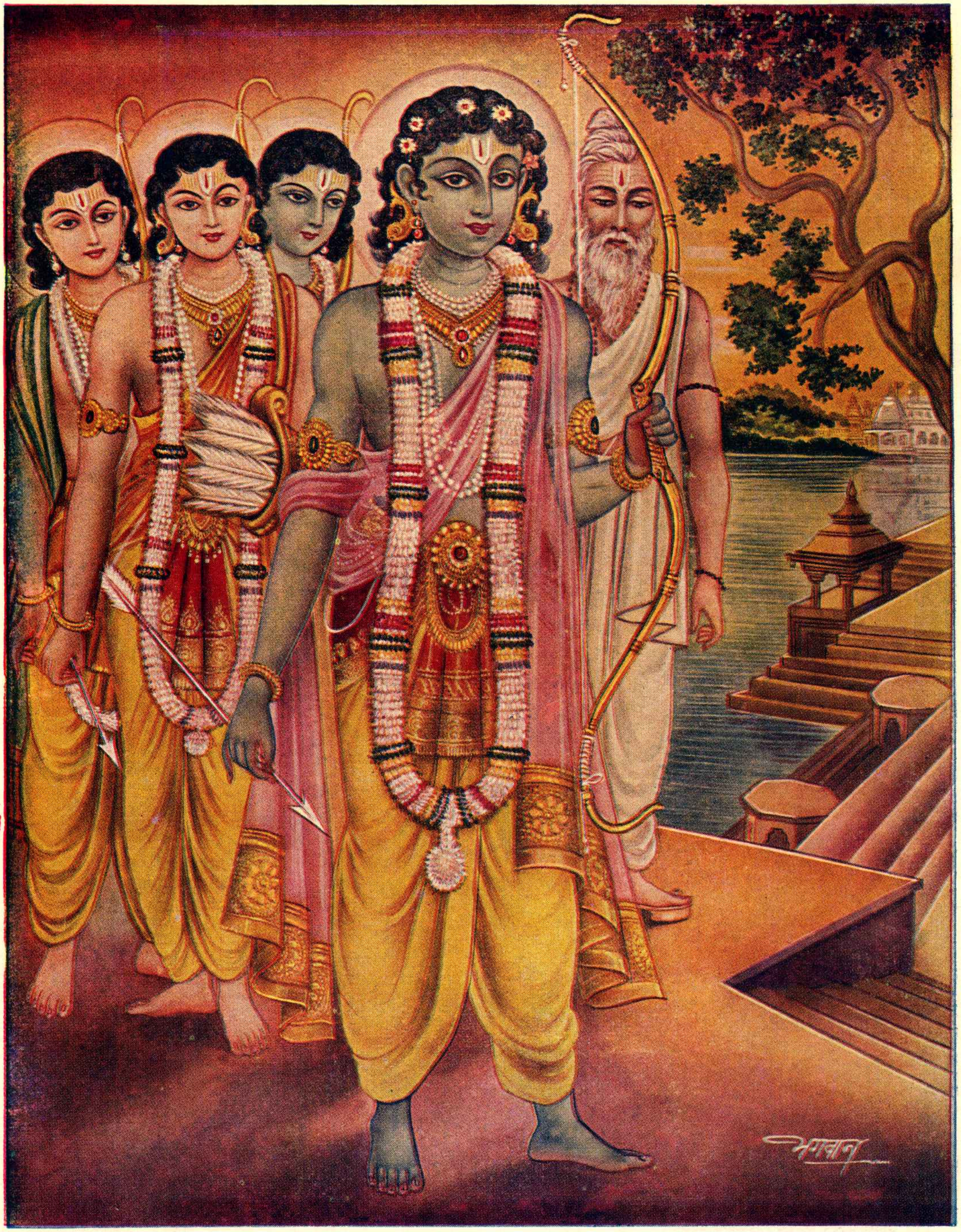

सरयूतटपर छोटे भाइयोंके साथ भगवान् राम

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते । पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

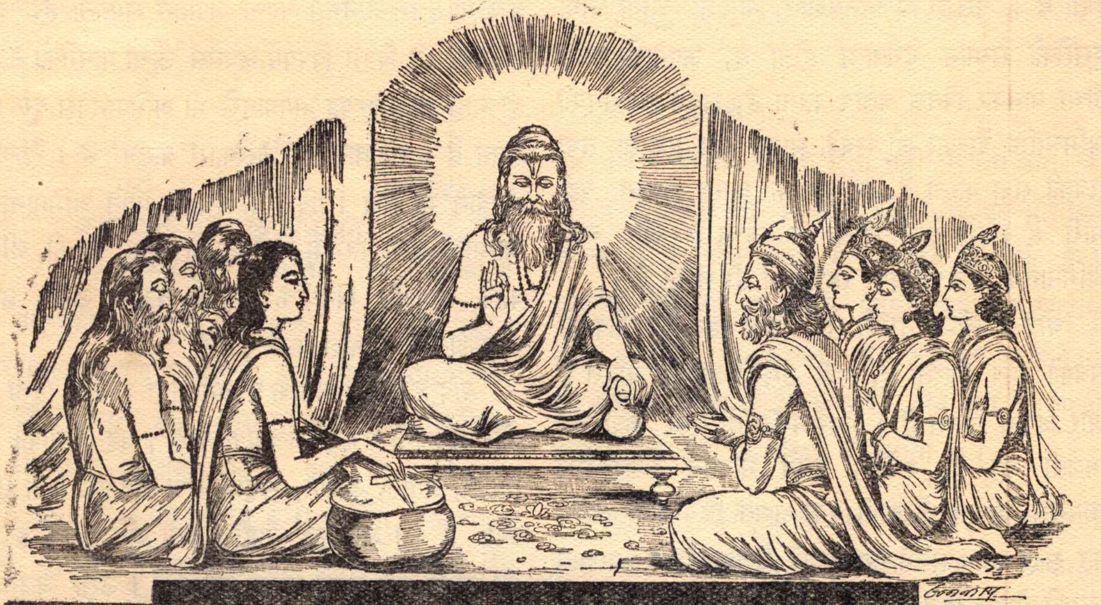

कल्याण

यतः सर्वाणि भूतानि प्रतिभान्ति स्थितानि च । यत्रैवोपशमं यान्ति तस्मै सत्यात्मने नमः ॥
यत्सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति च स्फुटम् । श्रुत्वा ह्युदीर्यते साम्नि तस्मै ब्रह्मात्मने नमः ॥

वर्ष ३५ | गोरखपुर, सौर फाल्गुन २०१७, फरवरी १९६१ | संख्या २
पूर्ण संख्या ४११

सरयूतटपर छोटे भाइयोंके साथ भगवान् राम

मज्जन करि सुभ सरजुतट ठाढ़े श्रीरघुबीर ।
संग अनुज मुनि अमल मन, प्रभु भंजन भव-भीर ॥
वपु नव-नीरद-नील सुचि, भुवनाभरन रसाल ।
सुंदर पीतांबर बिसद भ्राजत उर मनिमाल ॥
पुष्पहार मुनि-मन-हरन सुन्दर सुखमा-ऐन ।
बिकट भ्रुकुटि, चितवनि कुटिल, रस-मदमाते नैन ॥
रूप जलधि माधुर्यनिधि उपमा-विरहित अंग ।
रोम रोमपर वारियै अगनित अजित अनंग ॥

याद रक्खो—जो पलड़ा नीचा होता है, वही भारी होता है। वैसे ही जो विनयशील, मानका त्यागी तथा दूसरोंको सम्मान देनेवाला होता है, अपनेको सबसे नीचा मानकर विनम्र बर्ताव करता है, सबमें भगवान्‌की अभिव्यक्ति देखकर जो सबके सामने सिर झुकाता तथा सबकी सेवा करता है; इन गुणोंके कारण वस्तुतः वही भारी है। इस क्षेत्रमें नीचा ही ऊँचा है और व्यर्थ अभिमानके ऊँचे पहाड़पर रहनेवाला ही नीचा है।

याद रक्खो—विनयीसे सब प्रसन्न रहते हैं, सेवकसे सबको सुख मिलता है, सभी उसको हृदयसे चाहते हैं और अपना मानते हैं। भगवान्‌की तो परम कृपा उसे मिलती ही है; क्योंकि सबमें भगवान् देखनेवालेके सामनेसे भगवान् तो कभी एक क्षणके लिये हटते नहीं। वह सदा सर्वत्र सबमें भगवान्‌को देखता है तो भगवान् उसको देखते रहते हैं।

याद रक्खो—विनयी पुरुषके मित्र बढ़ते हैं और अभिमानीके शत्रु। विनयीके कहीं गिरनेपर लोग उसे उठाने दौड़ते हैं तो अभिमानीको धक्के और ठोकर मिलते हैं। विनयीको कहीं अपमान-तिरस्कारका अनुभव नहीं होता; क्योंकि वह अपमान-तिरस्कारको कुछ समझता ही नहीं और अभिमानीको बार-बार अपमान-तिरस्कारकी चोट लगती रहती है। कोई भी स्वाभाविक आकृति, चाल तथा शब्द ही उसपर मर्माघात करने लगते हैं। ये सब विपत्तियाँ अभिमानीकी अपनी बुलायी होती हैं और वे सदा उसके साथ लगी रहती हैं, उनके संगी-साथी तथा परिवारकी वृद्धि होती रहती है। पर विनयीके पास ऐसी दैवी सम्पदाका सुदृढ़ किला रहता है कि उसमें इन विपत्तियोंका कभी प्रवेश ही नहीं हो सकता।

याद रक्खो—विनयी पुरुषके द्वारा ही किसीका सेवा-संस्कार हो सकता है। अभिमानी तो अपनी ऐंठमें ही रहता है, वह अभिमानवश गुरुजनोंका भी अपमान कर बैठता है। इससे वह उनकी सद्भावना एवं आशीर्वादसे वञ्चित रह जाता है। शिक्षा ग्रहण करनेमें भी अभिमानसे बहुत बड़ी बाधा आती है; क्योंकि अभिमानी मनुष्य किसीसे कुछ भी पूछने-जाननेमें अपना अपमान समझता है, वह किसीको भी किसी विषयमें अपनेसे ऊँचा माननेको तैयार ही नहीं होता। वह भगवान्‌से भी अभिमानवश दूर ही रहता है। संतोंका भी तिरस्कार करता है। इसीसे भगवान् भी सच्चे चिकित्सक वैद्यकी भाँति अभिमानीका अभिमान नाश करनेके लिये उसके साथ द्वेषकी लीला करते हैं और विनयीके दैन्यके कारण उसके प्रति स्नेह-लीलाका प्रकाश करते हैं।

याद रक्खो—विनयीके हृदयमें सदा शान्ति रहती है और अभिमानीका हृदय जलता रहता है। वह किसीकी भी उन्नति, प्रगति, उत्थान, समृद्धि तथा कीर्तिकी बात सुन लेता है तो उसे सह नहीं सकता और उसके हृदय-की द्वेषाग्नि बड़े वेगसे भड़क उठती है। उसी जलनको मिटानेके लिये यह ऐसे कुकर्म भी कर बैठता है जो उसकी उस आगको भीषण दुःखदावाग्नि एवं नरकानल बनाकर जलनको और भी तीव्र तथा भयानक कर देते हैं।

याद रक्खो—सच्चा विद्वान् तथा बुद्धिमान भी वही है, जिसमें विनय है। विद्याका अवश्यम्भावी फल ही है विनयकी प्राप्ति और विनयके आते ही पात्रता तथा समृद्धि भी आ जाती है। इस प्रकार जो सुख-शान्ति प्रदान करनेवाली पात्रता एवं समृद्धिका सम्पादन कर लेता है, वही बुद्धिमान् है।

याद रक्खो—फलवाले वृक्ष झुक जाते हैं और अपने अमृत-स्वादी फलोंसे जन-जनको तुष्ट करते हैं, पर अफलवृक्ष सीधे तने खड़े रहते हैं और सबकी उपेक्षाके पात्र होते हैं। सब प्रकारके उत्तम लाभ विनयमें ही हैं। अतः तुम भी विनयी बनो और उससे सबको अपना बना लो।

याद रक्खो—विनय असली होनी चाहिये, दिखावटी नहीं। दिखावटी विनय तो एक प्रकारका छल है जो अपनेको धोखा देता है। अतः दिखावटी विनय न करके असली आदर्श विनयका अर्जन तथा व्यवहार करो।

'शिव'

कर्म-मीमांसा

(लेखक—श्रीस्वामीजी श्रीचिदानन्दजी सरस्वती)

सुखस्य दुःखस्य न कोऽपि दाता
परो ददातीति कुबुद्धिरेषा।
अहं करोमीति वृथाभिमानः
स्वकर्मसूत्रे ग्रथितो हि लोकः॥

मनुष्यको सुख-दुःख देनेवाला दूसरा कोई नहीं। दूसरे मुझको सुख-दुःख देते हैं, ऐसा मानना नासमझीकी बात है। 'मैं करता हूँ'—ऐसा समझना व्यर्थका अभिमान है। श्रीनरसिंह मेहताके शब्दोंमें कहें तो—'मैं करता हूँ, मैं करता हूँ—यह अज्ञान है।' क्योंकि मनुष्यमात्र अपने ही कर्मके बन्धनसे आप जकड़ा हुआ है और उसको अपने कर्मोंके फलके रूपमें ही सुख-दुःखकी प्राप्ति होती है। यह हुआ ऊपरके श्लोकका अर्थ। पर इतने अर्थसे कर्मका रहस्य समझमें नहीं आता, अतएव इसको समझनेके लिये एक दृष्टान्त लीजिये।

एक शिकारी हिरणको मारनेके लिये अपना तीर छोड़ता है। दैववशात् वह तीर हिरणको लगता है और हिरण मर जाता है। अब यदि हिरणको वाणी प्राप्त हो और वह कहे कि इस तीरने मुझे मार डाला, अर्थात् इस तीरने मुझको मृत्युका दुःख प्रदान किया, तो हम तुरंत कह उठेंगे कि 'भाई हिरण! तुम्हारी बात सच्ची नहीं। तीर तो जड है, वह तुमको क्या मार सकता है? तुमको मारनेवाला तो वह शिकारी है, जिसने तुमको मारनेके लिये तीर छोड़ा था।' अब यदि हम सूक्ष्मबुद्धिसे आगे विचार करें कि जैसे तीर शिकारीके हाथका साधनमात्र है, उसी प्रकार शिकारी भी उस महान् जादूगरके हाथका साधन है जो 'विश्व-नियन्ता' कहलाता है। हिरणकी मृत्यु तो उसके प्रारब्धका भोग समाप्त होनेपर हुई। उसकी मृत्युका उस क्षण निर्माण न होता और उसका प्रारब्ध-भोग शेष होता तो वह तीर उसे न लगता; क्योंकि ऐसा नहीं देखनेमें आता कि जब-जब शिकारी तीर छोड़ता है तब-तब वह प्राणीको लगता ही है और उसकी मृत्यु अवश्य ही होती है। इसलिये हिरणको तो उसके पूर्वकृत कर्मोंके फलरूपसे मृत्यु प्राप्त हुई; परंतु कामना, आसक्तिसे युक्त जो शिकारी यह अहङ्कार करता है कि हिरणको मैंने मारा, हिरणकी हत्याका पाप उसे तो अवश्य ही लगता है।

अर्जुनको भी ऐसा ही मोह कुरुक्षेत्रके समराङ्गणमें हुआ था और उसकी निवृत्तिके लिये श्रीभगवान्ने समझाया था कि 'इन सबको मारनेवाला तो मैं हूँ, तुम तो केवल निमित्तरूप बनो।' **'निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन्'** का भाव यही है।

जब कर्मके विषयमें भगवान् स्वयं कहते हैं कि **'गहना कर्मणो गतिः'** अर्थात् कर्मकी गति गहन है, तब मनुष्यके लिये कर्मका रहस्य जाननेका यत्न करना उसकी अनधिकार चेष्टा है। अतएव कर्मके रहस्यको पूर्णतः समझना-समझाना मनुष्यकी बुद्धिकी सीमाके परेकी बात है। परंतु वह कोई अंश यथार्थरूपमें समझता है—उसे यदि ऐसा लगे तो उसको जनताके सामने उपस्थित करनेमें कोई दोष नहीं है; क्योंकि कदाचित् वही अंश किसी मुमुक्षुके ठीक समझमें न आया हो और इससे उसका समाधान हो जाय।

कर्मका रहस्य समझनेके लिये उसके दो विभाग करके देखें। एक अनैच्छिक अर्थात् प्रकृति-प्रेरित कर्म है, दूसरा ऐच्छिक अर्थात् बुद्धि-प्रेरित कर्म। अनैच्छिक कर्म शरीरके धर्मके अनुसार अपने-आप ही हुआ करता है और उसमें इच्छा या बुद्धिकी प्रेरणाकी आवश्यकता नहीं होती। उदाहरणार्थ—श्वासोच्छ्वासकी क्रियाको ले लें। वह

हमारी इच्छा हो या न हो, पर अपने-आप हुआ करती है। इसी प्रकार सब इन्द्रियोंकी क्रियाएँ अपने-आप हुआ करती हैं, उनमें इच्छा या बुद्धिकी प्रेरणाकी आवश्यकता नहीं होती; क्योंकि यह सर्वमान्य सिद्धान्त है कि जबतक धर्मी है तबतक उसके धर्ममें बाधा नहीं हो सकती। अर्थात् जबतक धर्मी आँख है, तबतक उसके रूप देखनेवाले धर्मका अथवा स्वभावका बाध नहीं हो सकता—कोई उसे रोक नहीं सकता। आँखें खोलीं कि रूप दिखायी दिया। भगवान् श्रीकृष्णने गीतामें इस बातको बहुत ही सुन्दर रीतिसे समझाते हुए कहा है—

नैव किञ्चित्करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित्।
पश्यञ्शृण्वन्स्पृशञ्जिघ्रन्नश्नन्गच्छन्स्वपञ्श्वसन्॥
प्रलपन्विसृजन्गृह्णन्नुन्मिषन्निमिषन्नपि।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्तन्त इति धारयन्॥

भाव यह है कि जो मनुष्य कर्मके रहस्यको ठीक-ठीक समझ गया है, वह अपनी इन्द्रियोंके स्वभाववश होनेवाले कर्मोंमें अपनेको कर्त्ता नहीं मानता; क्योंकि वह जानता है कि जबतक चक्षु आदि इन्द्रियाँ हैं, तबतक उनके दर्शन आदि व्यवहारोंको रोकनेका कोई उपाय नहीं है। जबतक कि शरीरका नाश नहीं हो जाता, तबतक उन इन्द्रियोंके स्वाभाविक कार्य होंगे ही। श्रीभगवान्‌ने यहाँ बहुत विस्तारपूर्वक समझाया है। 'पश्यन्' अर्थात् देखनेकी क्रिया; जबतक आँख है तबतक उसका रूप देखनेका स्वभाव मिट नहीं सकता। 'शृण्वन्' अर्थात् सुननेकी क्रिया; कान जबतक है तबतक उसके सुननेका धर्म लुप्त नहीं हो सकता। 'स्पृशन्' अर्थात् स्पर्श करनेकी क्रिया; जबतक स्पर्शेन्द्रिय विद्यमान है तबतक स्पर्श-ज्ञान हुए बिना नहीं रहता। एक आदमी दोपहरके समय नदीमें कमरतक पानीमें खड़ा रहे तो उसकी इच्छा हो या न हो, उसकी कमरके नीचेके भागमें शीतलताका बोध और ऊपरके भागमें उष्णताका बोध हुए बिना नहीं रहेगा। 'जिघ्रन्' अर्थात् सूँघनेकी क्रिया। जबतक नासिका है तबतक सुगन्ध-दुर्गन्ध आदिका ज्ञान अनिवार्य है। 'अश्नन्' अर्थात् खानेकी क्रिया; जबतक जीभ है तबतक अपने मुँहमें कोई भी वस्तु डालो और उसका स्वाद जाननेकी तुम्हारी इच्छा न हो तो भी उस-उस वस्तुका स्वाद मिले बिना नहीं रहेगा। यह हुई ज्ञानेन्द्रियोंकी बात। कर्मेन्द्रियोंकी बात भी इसी प्रकार समझ लें।

जब श्रीभगवान् कहते हैं—

'नहि देहभृता शक्यं त्यक्तुं कर्माण्यशेषतः।'

—तब उसका अर्थ यही होता है कि इन्द्रियोंके नैसर्गिक कर्मोंका त्याग सम्भव नहीं। हठपूर्वक त्याग करने जायँगे तो शरीरका नाश हो जायगा। इसी बातको समझाते हुए श्रीभगवान् कहते हैं—

'शरीरयात्रापि च ते न प्रसिद्ध्येदकर्मणः।'

अर्थात् यदि तुम अपनी इन्द्रियोंके नैसर्गिक व्यवहारका त्याग करने जाओगे तो तुम्हारे शरीरका निर्वाह नहीं हो सकेगा। अर्थात् इन्द्रियोंके तत्-तत् व्यवहारके बिना शरीर टिक नहीं सकता।

जिसको केवल तर्क करना है और सदाचारकी ओर नहीं देखना है, वह कहेगा कि जब इन्द्रियोंके व्यापार रोके नहीं जा सकते, मनुष्य मनमाना आचरण करे और अनुचित व्यवहार करे तो उसके लिये वह उत्तरदायी कैसे होगा? उत्तर यह है कि अशुभ कर्म कदापि इच्छा या बुद्धिकी प्रेरणाके बिना नहीं हो सकता। प्रकृति-प्रेरित व्यवहार अनिच्छासे हुआ करते हैं, पर अशुभ प्रवृत्तिमें तो सुख पानेकी इच्छा कारणभूत होती है; अतएव वैसी अशुभ क्रियाके लिये कर्ता उत्तरदायी है ही। बल्कि जो अनैच्छिक कर्म अपने-आप हुआ करते हैं, उनमें भी श्रीभगवान्‌ने सावधान रहनेके लिये कहा है; क्यों प्रकृति सदा ही अधोगामिनी होती है और मन सदा विषयोंसे सुख पानेके लिये तैयार रहता है। इसीलिये श्रीभगवान् कहते हैं—

इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ।
तयोर्न वशमागच्छेत् तौ ह्यस्य परिपन्थिनौ॥

प्रत्येक इन्द्रियके विषयमें राग-द्वेष रहते हैं। अर्थात् इन्द्रियोंका उनके विषयके साथ संयोग होनेपर राग-द्वेष उत्पन्न होता है। उस राग-द्वेषके फंदेमें मत फँसो। यदि फँसे तो अवश्य लुट जाओगे। इसका स्पष्टीकरण यह है कि चक्षु-इन्द्रियका दर्शनका व्यवहार भले ही हो, पर वह व्यवहार राग-द्वेषपूर्वक नहीं होना चाहिये; क्योंकि इन्द्रियोंके नैसर्गिक व्यवहारमें भी यदि राग-द्वेष मिला होगा तो उस व्यवहारका संस्कार अन्तःकरणके ऊपर पड़े बिना न रहेगा और वह संस्कार भावी-बन्धनको उत्पन्न करनेवाला बन जायगा। सारांश यह कि आँखसे रूपको देखना तो आँखका धर्म है, पर भोगदृष्टि आसक्ति या बुरी भावनासे रूपको देखना पापकर्म समझा जायगा और उसका फल भोगना ही पड़ेगा। इसलिये श्रीभगवान् कहते हैं कि इन्द्रियोंके नैसर्गिक व्यापारमें भी राग-द्वेषसे मुक्त रहना ही चाहिये।

यहाँतक अनैच्छिक कर्मकी बात हुई। अब ऐच्छिक अर्थात् इच्छा या बुद्धिकी प्रेरणासे हुए कर्मोंकी ओर देखिये। गीतामें अधिकांश इसी कर्मकी चर्चा है। गीताके कर्मयोगका मूल सूत्र है—'योगः कर्मसु कौशलम्' अर्थात् कर्ममें कुशलता होनेका नाम योग है। कर्ममें कुशलता अर्थात् कर्म ऐसी कुशलतासे किया जाय कि जिससे कर्म करनेपर भी कर्मका बन्धन न हो—जैसे जलके भीतर रहनेपर भी कमलको जलका स्पर्श नहीं होता।

कर्मकी मीमांसा करते हुए भगवान् कहते हैं कि इस विषयमें विद्वानोंमें भी दो मत हैं। एक पक्ष कहता है कि 'कर्ममात्र दोषयुक्त हैं, अतः वे जीवनके लिये बन्धनकारक हैं। उनका सर्वथा त्याग करना चाहिये।' दूसरा पक्ष कहता है कि यज्ञ, दान और तप-जैसे पवित्र कर्मोंका त्याग न करे। इस विषयमें मेरा जो निश्चय है वह मैं तुझसे कहता हूँ। ध्यान देकर सुनो—

यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत्।
यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम्॥

भगवान् कहते हैं कि यज्ञ, दान और तप-जैसे कर्मोंका त्याग न करे, बल्कि उनका आचरण अवश्य करे; क्योंकि ये पवित्र कर्म अन्तःकरणको शुद्ध करके परमात्माकी प्राप्ति कराते हैं। फिर ये कर्म भी किस प्रकार किये जायँ, यह समझाते हुए कहते हैं—

एतान्यपि तु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा फलानि च।
कर्तव्यानीति मे पार्थ निश्चितं मतमुत्तमम्॥

इन पवित्र कर्मोंको भी 'मैं करता हूँ'—यह अभिमान बिना रखे तथा उनके फलमें आसक्ति किये बिना करे; क्योंकि ऐसे शुभ और पवित्र कर्म भी यदि फलकी इच्छासे अहङ्कारपूर्वक किये जाते हैं तो वे बन्धनकारक होते हैं। अन्तर इतना ही है कि ऐसे कर्मोंसे सोनेकी बेड़ी पड़ती है और दूसरे प्रकारके कर्मोंसे लोहेकी बेड़ी। दोनोंमें बन्धन तो समान ही होता है।

गीता कहती है कि कोई भी कर्म बन्धनकारक नहीं होता। कर्म-बन्धनमें डालनेवाला तो कर्तापनका अभिमान और फलकी इच्छा—ये दो ही हैं। इसलिये अभिमान और इच्छारहित होकर जो भी कर्म किया जाता है, वह बन्धनकारक नहीं होता। इसीको बतलाते हुए श्रीभगवान् कहते हैं—

यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते।
हत्वापि स इमाँल्लोकान्न हन्ति न निबध्यते॥

अर्थात् जिस मनुष्यमें 'यह कर्म मैं करता हूँ'—ऐसा अहङ्कार नहीं है तथा इस कर्मका 'अमुक फल मुझे मिलेगा'—ऐसी इच्छा नहीं है, वह मनुष्य यदि इस युद्धभूमिमें खड़े सारे योद्धाओंको मार डाले तो भी उस कर्मका बन्धन नहीं होगा। इससे स्पष्ट हो गया कि कर्म स्वयं बन्धनमें नहीं डालता, बल्कि बन्धनकारक होते हैं उसमें रहनेवाली फलेच्छा और कर्तापनका अभिमान।

जबतक हम संसारमें हैं, तबतक कर्म तो करने ही पड़ेंगे, इससे छुटकारा नहीं है। इसलिये कर्म कैसे बन्धनकारक नहीं बनेंगे, इसका उपाय बतलाती हुई गीता कहती है कि (१) कर्त्तापनका अभिमान न रखो, (२) फलकी इच्छाके बिना कर्म करो।

फलकी इच्छा न रखकर कर्म करनेसे फल नहीं मिलता हो ऐसी बात नहीं है। इच्छारहित अर्थात् निष्कामकर्मका फल तो अनन्तगुना अधिक मिलता है और वह बन्धनकारक नहीं होता बल्कि निष्काम कर्म ऐहिक फल देनेके उपरान्त अन्तःकरणकी शुद्धि करता है और इस प्रकार जीवन्मुक्तकी स्थिति प्राप्त होती है। यह कोई कम लाभ नहीं है।

इस कर्त्तापनके अभिमानका त्याग करनेके लिये गीतामें श्रीभगवान्‌ने अनेकों साधन बतलाये हैं। एक स्थानमें वे कहते हैं—

प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः।
अहङ्कारविमूढात्मा कर्त्ताहमिति मन्यते॥

अर्थात् कर्म-सम्पादन तो प्रकृतिके गुणोंसे होता है, परंतु अहङ्कारवश मूढ होकर जीवात्मा अपनेको कर्ता मान लेता है। अब प्रकृतिके गुणोंसे कर्म कैसे होता है—यह समझना चाहिये। प्रकृतिके गुण सत्त्व, रज और तम हैं। इन तीन गुणोंका कार्य यह शरीर है; क्योंकि इन तीन गुणोंसे पञ्चमहाभूत हुए और उन भूतोंसे यह शरीर हुआ। इसलिये सारे कर्मोंका सम्पादन स्थूलशरीरसे होता है और स्थूलशरीरकी सत्ता देनेवाला है सूक्ष्मशरीर। आत्मा तो केवल देखनेवाला है, वह कुछ करता नहीं तथापि अज्ञानके कारण अपनेको कर्ता मान लेता है और इस प्रकार अज्ञानसे घिरा हुआ आत्मा जीवसंज्ञाको प्राप्त होता है, अर्थात् अपनेको कर्त्ता-भोक्ता मानकर जन्म-मरण-धर्मवाला बनता जाता है।

कर्त्ता भोक्ता देह मैं, यही -जीवका रूप।
जब वह खुद कर्ता नहीं, केवल शिवस्वरूप॥

'मैं ही कर्त्ता-भोक्ता देह हूँ'—ऐसा अज्ञानवश मानकर आत्मा जीवभावको प्राप्त होता है। जीवनका स्वरूप इस अज्ञानके सिवा और कुछ नहीं है। परंतु यदि आत्मा अपने यथार्थ स्वरूपको समझ जाय कि मैं तो कर्त्ता, भोक्ता तथा देह नहीं, फिर तो वह शिवस्वरूप है ही। इस प्रकार व्यर्थ कर्त्तापनके अभिमानसे आत्मा बन्धनको प्राप्त होता है। इसलिये भगवान् कहते हैं कि आत्मा कर्त्ता नहीं है, यह निश्चय करके कर्त्तापनका अभिमान छोड़ दो।

दूसरे, कर्मफलकी आशा छोड़नेके लिये तो स्थान-स्थानपर श्रीभगवान्‌ने कहा ही है। उनमेंसे एक-दो प्रसङ्ग लीजिये—

कर्मजं बुद्धियुक्ता हि फलं त्यक्त्वा मनीषिणः।
जन्मबन्धविनिर्मुक्ताः पदं गच्छन्त्यनामयम्॥

भगवान् कहते हैं कि जिनको तत्त्वज्ञान हो गया है, वे बुद्धिमान् और चतुर मनुष्य कर्मसे उत्पन्न होनेवाले फलका त्याग करके जन्म-मरणके बन्धनसे मुक्त होकर अनामय पद अर्थात् मोक्षको प्राप्त होते हैं।

भाव यह है कि यदि कर्म निष्काम भावसे किया जाय तो उससे बन्धन नहीं होता; इतना ही नहीं, जन्म-मरणका बन्धन टूट जाता है और शाश्वत सुखकी प्राप्ति होती है।

कर्म-फलत्यागके विषयमें एक दूसरे प्रसङ्गमें श्रीभगवान् कहते हैं—

युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा शान्तिमाप्नोति नैष्ठिकीम्।
अयुक्तः कामकारेण फले सक्तो निबध्यते॥

इसलिये जो कर्मयोगी है अर्थात् जिसने कर्मके यथार्थ रहस्यको जाना है, वह कर्मके फलको त्यागकर परमशान्ति प्राप्त करता है, अर्थात् निर्वाण-पदको पाता है। और जो अयोगी है अर्थात् कर्मके रहस्यको नहीं समझता, कर्ममें आसक्ति रखता है, वह फलकी इच्छा

रखकर कर्म करता है, जिससे वह कर्मके बन्धनमें जकड़ जाता है। अर्थात् जो कर्मफलकी इच्छा नहीं रखता, वह जन्म-मरणके दुःखसे छूट जाता है और जो कर्मफलकी आशाका सेवन करता है, उसका जन्म-मरण चालू रहता है।

इस छोटे-से निबन्धमें हमने देख लिया कि अनैच्छिक कर्म भी यदि राग-द्वेषयुक्त हों तो बन्धनकारक बनते हैं; अतएव उनमें भी राग-द्वेषसे मुक्त रहे तथा ऐच्छिक कर्ममें कर्त्तापनका अभिमान न रक्खे और फलकी आशाका सेवन न करे। ऐसा करनेसे किसी भी कर्मका बन्धन न होकर शाश्वत शान्ति मिलेगी, अर्थात् मुक्ति प्राप्त होगी।

इस लेखके शीर्षस्थानमें जो श्लोक उद्धृत किया गया है, उसी भावकी भक्तराज नरसिंह मेहताकी दो पंक्तियाँ लिखकर लेख समाप्त किया जाता है। कवि कहते हैं—

हुं करूँ हुं करूँ, एज अज्ञान छे।
शकटनो भार जेम श्वान ताणे॥

× × ×

नीपजे नरथी तो कोई ना रहे दुखी।
शत्रु मारीने सौ मित्र राखे॥

× × ×

जेहना भाग्यमाँ जे समे जे लख्युं।
तेहने ते समे ते जपहोंचे॥

अनुवाद

मैं करूँ मैं करूँ, यही अज्ञान है।
शकटका भार, ज्यों श्वान ताने॥

× × ×

उपजे नरसे तो कोई ना रहे दुखी।
शत्रुको मार, सब मित्र राखे॥

× × ×

जाके भाग्यमें जेहि समय जो लिख्यो।
ताको ताही समय सोइ पहुँचे॥

पवित्र प्रेम

प्रेम पवित्र परम उज्ज्वल जो काम-कलुषसे रहित उदार।
शशधर-कलासदृश प्रति पल ही बढ़ता रहता सहज अपार॥
नहीं कभी भी, किसी हेतुसे, हो सकता उसका प्रतिरोध।
नहीं कभी उसका कर सकता कोई लौकिक भाव निरोध॥
धन-जन तन, बहु-भोग-जनितसुख, दुःख प्रबलका तनिक प्रभाव।
नहीं कभी होता प्रेमाप्लावित मनपर, रहता सद्भाव॥
नहीं नरकका भय रहता कुछ, रहता नहीं स्वर्गका काम।
जीवन-रमण प्रेम-रसमें नित डूबे ही रहते अभिराम॥
प्रियतम प्रभु बन स्वयं मधुरतम प्रेमसुधा-रस-पारावार।
करते परम मनोहर अपनेमें ही आप विचित्र विहार॥
उठतीं ललित लहरियाँ उसमें अनुपम अमल अमित अविराम।
देती सतत अनन्त कालतक सुख शुचि नित्य नवीन ललाम॥
इह-पर रहता नहीं, नहीं रहता अनित्य दुखमय संसार।
उठता नहीं मोक्ष-सुखका भी मनमें किञ्चित् काम-विकार॥
रहते प्रियतम सुख-सच्चिन्मय छाये एक सदा सर्वत्र।
सदा अमृत-रस-वर्षा होती सुर-मुनि-दुर्लभ परम पवित्र॥

परमार्थ-पत्रावली

(श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके पत्र)

(१)

सादर प्रणाम, आपका पत्र मिला, समाचार जाने। आपके प्रश्नोंका उत्तर इस प्रकार है—

जीव वैकुण्ठधाममें जानेपर मुक्त हो जाता है, इसमें कोई संदेह नहीं है।

पाप और पुण्य दोनों समाप्त हो जानेपर जीव मुक्त हो जाता है। जबतक कर्मसंस्कार रहते हैं, तबतक जन्म-मरण होता रहता है। कर्मोंके विधानानुसार नाना योनियोंमें जन्म होता रहता है।

पाप-कर्मका फल जीवको हरेक योनिमें भोगना पड़ता है। नरकमें तो खास-खास पाप-कर्मका फल भुगताया जाता है। उतनेसे समस्त पापोंका फल समाप्त नहीं हो जाता। मनुष्य-योनिमें पूर्वकृत पापका फल भी भोगा जाता है और नवीन कर्म करनेका भी अधिकार रहता है तथा मनुष्य अपना उद्धार भी कर सकता है; क्योंकि इसमें उसको विवेक प्राप्त है।

स्वर्ग और नरकमें कर्मचारियोंको भी उनके कर्मफलानुसार ही भिन्न-भिन्न अधिकार और कार्य मिलता है। उतने कर्मफलोंका पूरा भोग हो जानेपर संचित कर्मोंमेंसे जो कर्म भोगोन्मुख होते हैं, उन्हींके अनुसार उनको अन्य योनि मिलती रहती है।

बिना चापलूसी और बिना कानूनको धोखा दिये ही ईमानदार व्यापारीका काम चल सकता है, यह मेरा विश्वास है। धर्मपालनमें कठिनाईका सामना तो करना ही पड़ता है, तभी मनुष्यका उद्धार होता है।

सभी चींटियाँ पंख निकलनेपर मर जाती हों—ऐसी बात नहीं है। लोग चन्द्रलोकमें पहुँच जायँ तब देखा जाय। अभी तो बात-ही-बात है।

राक्षसयोनि वर्तमानकालमें दृष्टिगोचर नहीं होती—इससे यह नहीं माना जा सकता कि उसका सर्वनाश हो गया है। कहीं राक्षसयोनि हो तो भी कोई आश्चर्यकी बात नहीं।

ईश्वर तो एक ही है, चाहे उसे भिन्न-भिन्न लोग भिन्न-भिन्न नामोंसे पुकारें। भिन्न-भिन्न भाषा, देश आदिकी रचना उन्होंने जीवोंके अनेक कर्मोंका फल भुगतानेके लिये ही की है—ऐसा मानना चाहिये।

अन्य योनियाँ सब भोग-योनियाँ हैं, उनमें नया पुण्य-पाप नहीं होता। अतः उनमें परस्पर जीवोंकी जो हिंसा होती है, वह कर्मोंके अनुसार ही होती है; परंतु मनुष्यको प्रभुने विवेक दिया है, अतः उसे मांसभक्षण और परपीड़ा आदि न करनेके लिये शास्त्रोंमें आदेश दिया गया है।

जो चार वेद ब्रह्माजीके मुखसे प्रकट हुए थे, वे यही हैं, ऐसा ही माना जाता है। ब्रह्माद्वारा लिखित पुस्तक कहाँ है या किस भाषामें है, यह मुझे पता नहीं। इतने समयकी पुस्तकका सुरक्षित रह सकना भी सम्भव नहीं है। वर्तमानकालमें तो कुछ हस्तलिखित तथा अधिकांश छपी हुई पुस्तकें ही मिलती हैं।

स्वतः मरे हुए कीटसमूहसे जो रेशम प्राप्त होती है, उसे पवित्र माना गया है। उससे बने हुए वस्त्र आदि भगवान्‌के विग्रहके काममें लाये जायँ तो उत्तम है।

अंग्रेज, रूसी, मुसल्मान आदि लोग चार वर्णोंमें नहीं आते क्योंकि उनमें वर्ण-व्यवस्था नहीं है। उन्हें मनुष्य ही मानना चाहिये।

अश्वमेध-यज्ञमें युधिष्ठिरका घोड़ा, उस समयतक जितनी धरतीका पता था तथा जहाँतक भारतीयोंका आवागमन था, वहाँतकके सभी देशोंमें गया और उनपर विजय प्राप्त की गयी—यही माना जाता है।

ईश्वरने जन्म-मरण, स्वस्थ-रोगी, पाप-पुण्य, मतभेद, अच्छा-बुरा, धनी-गरीब जो कुछ बनाया है, सब जीवोंके कर्मानुसार और उनके कर्मफल भुगतानेके लिये ही बनाया है। सब लोग पुण्य करनेवाले तथा धर्मात्मा हो जायँ तो बहुत अच्छी बात है। परमेश्वरका इसमें कोई नुकसान नहीं, पर लोग होते नहीं—इसका क्या उपाय?

गणेशजीके फोटोको लटकाना नहीं चाहिये—इस तरहकी बात शास्त्रोंमें हो तो मुझे पता नहीं; क्योंकि मुझे सब शास्त्रोंका ज्ञान नहीं है।

आजकलके वैज्ञानिक जो कुछ आविष्कार कर रहे हैं, वह भौतिक दृष्टिसे उनकी बड़ी बुद्धिमानी ही है।

गर्भपात करना तो पापकर्म है। स्त्री-पुरुषोंमें कृत्रिम नपुंसकताका प्रचार भी मेरी समझमें अच्छा कार्य नहीं है। लोग यदि संयम कर सकें तो वह हितकर है।

जिन राजाओंने अन्य वर्णोंकी स्त्रियोंसे शादी की, उसे बुरा काम ही माना गया। जनताको आज्ञा देना धर्मके नियम बनानेवाले ऋषियोंकी जिम्मेदारीके अन्तर्गत था।

नारद, वसिष्ठ, विश्वामित्र, दुर्वासा, वेदव्यास आदि ऋषि क्यों नहीं प्रत्यक्ष मिलते—इसका कारण तो कलियुग बताया जाता है। इससे अधिक मैं क्या बताऊँ। मैं तो उनके मिलनेका उपाय जानता नहीं।

पुष्कर तालाबमें स्नान करनेके फलकी बात स्नान करनेवालोंके श्रद्धा-विश्वासपर निर्भर है। आपको अच्छा न लगा—यह आपकी मान्यता हो सकती है। सबके लिये एक-सी बात नहीं है।

विवाह किये हुए पुरुषको जनेऊका जोड़ा पहनना चाहिये तथा कुमारको एक जनेऊ पहनना चाहिये—यह विधान है। लघुशंका आदिके समय यज्ञोपवीतको कानपर चढ़ा लेनेका विधान है। एक कानपर चढ़ा लेना ही काफी है। जनेऊ पुरानी, कमजोर या अपवित्र होनेपर बदल लेनी चाहिये।

राजाको गीतामें ईश्वरका अवतार नहीं बताया गया है, 'नराणां च नराधिपम्'—कहकर उसकी विशेषताका ज्ञान कराया गया है।

विशेषतायुक्त चीज भगवान्‌की विभूति है।

गो-हत्या क्यों नहीं बंद होती—यह तो उन्हींसे पूछना चाहिये, जिन्हें आप धार्मिक तथा राष्ट्रके सर्वोच्च शासक मानते हैं।

आजकलका विकट समय देखकर मेरी तो यही राय है कि आपके मित्रको अपनी पत्नीके पूर्व दोषको क्षमा कर देना चाहिये तथा भविष्यके लिये उससे प्रतिज्ञा करा लेनी चाहिये। यदि वह प्रतिज्ञा कर ले तो उसके दोषको भुलाकर उसे प्रेमसे अपने पास रख लेना चाहिये। नहीं तो, आगे चलकर स्त्री अधिक चरित्रभ्रष्ट हो सकती है तथा आपके मित्र भी आजीवन ब्रह्मचर्यका पालन कर सकेंगे—इसमें भी संदेह है।

(२)

सादर हरिस्मरण। आपका पत्र मिला। समाचार ज्ञात हुए। उत्तर इस प्रकार हैं—

सिनेमामें जो धार्मिक दृश्य दिखाये जाते हैं, उनका भी रूप अत्यन्त विकृत होता है; क्योंकि उन दिखानेवालोंका लक्ष्य दर्शकोंको प्रसन्न करना, आकर्षित करना और हँसाना ही मुख्य रहता है। उसमें शिक्षाके नामपर भी अशिक्षाका ही प्रचार होता है। इसलिये मेरी रायमें सिनेमाका विरोध करना सर्वथा उचित है।

(३)

सादर हरिस्मरण। आपका पत्र मिला। गुरु बननेकी न तो मेरी योग्यता है और न मैं समर्थ ही हूँ; अतः यदि आपने भूलसे मुझमें गुरुकी भावना कर ली हो तो उसे छोड़ दें और मुझे अपना मित्र मानकर ही पत्र-व्यवहार करें।

उत्तर शीघ्र देनेके लिये लिखा सो क्या किया जाय। पत्र बहुत आते हैं। मुझे समय कम मिलता है, इस कारण देर हो ही जाती है।

आदमी जब जन्मता है, उस समय उसे सुख-दुःखका ज्ञान रहता है, दुःख-निवारणके लिये रोता भी है। अपनी माके स्तनोंका दूध भी पान करता है। पर उन बातोंको शीघ्र ही भूल जाता है, पीछे वे याद नहीं रहतीं।

आपने अपनी परिस्थितिका विवरण लिखा सो ठीक है। जो गलतियाँ भूतकालमें जानकर या बेसमझीसे हो गयी हैं, उनका बार-बार चिन्तन करनेसे कोई लाभ नहीं है। भविष्यमें वैसी गलती न करनेका दृढ निश्चय रखना चाहिये।

ब्रह्मचर्य-भंग करनेसे जिस हानिकी अनुभूति आपको हुई है, उस अनुभूतिसे यह लाभ उठाना चाहिये कि फिर वैसी गलती न हो; क्योंकि उससे हानि-ही-हानि है। कोई प्राणी अपनी हानि नहीं चाहता, विषको विष जाननेके बाद उसे कोई नहीं खाता।

जिस घटनामें मनुष्य किसी प्रकारका सुख मान लेता है, उसीका स्वप्न प्रायः आ जाया करता है। उस प्रकारके कार्यको न करनेका दृढ़ संकल्प करनेके बाद वैसे स्वप्न अपने-आप बंद हो सकते हैं; क्योंकि संकल्प-विकल्प और स्वप्न मनुष्यके भावसे ही सम्बन्ध रखते हैं। अतः भाव शुद्ध हो जानेके बाद अशुद्ध स्वप्न नहीं आ सकते।

आप निराश न हों, अपने जीवनका परिवर्तन करनेमें आप सर्वथा स्वतन्त्र हैं। इसके लिये किसी वस्तु और

व्यक्तिकी सहायता अनिवार्य नहीं है । आपको जो कुछ प्राप्त है, उसीका सद्भावनापूर्वक उचित उपयोग करनेसे आप अपने जीवनको सुन्दर और आदर्श बना सकते हैं । इसमें वैद्यसे परामर्श करना आवश्यक नहीं है ।

आपके प्रश्नोंका उत्तर क्रमसे इस प्रकार है—

(१) ईश्वर सर्वसमर्थ और सर्वज्ञ है, अतः वह निर्गुण भी है और सगुण भी । समस्त दिव्य गुणोंका केन्द्र वही है । उसकी सत्तासे ही सबकी सत्ता है ।

(२) भगवान्‌की शक्ति-विशेषका नाम माया है, इसको प्रकृति भी कहते हैं । गीता अध्याय ७ श्लोक ४ में इसे अपरा प्रकृतिके नामसे और श्लोक १४ में गुणमयी मायाके नामसे कहा गया है । इससे छुटकारा पानेका उपाय उसी श्लोकमें एकमात्र भगवान्‌की शरण लेना, उन्हींको अपना सर्वस्व मानकर सर्वभावसे उनका हो जाना बताया गया है ।

(३) मनको जीतनेमें असमर्थताका अनुभव इसलिये होता है कि प्राणी विषयोंमें सुखकी आशा रखता है, उसकी कामनाको अपनी आवश्यकता मानकर उसे पूरी करना चाहता है और बुद्धिके ज्ञानकी अवहेलना करता रहता है । यदि ऐसा न करके विवेकयुक्त बुद्धिके अनुसार काम करे और कामना-त्यागसे मिलनेवाली परम शान्तिकी लालसाको सबल बना ले तो मन बड़ी सुगमतासे अपने-आप वशमें हो जाता है ।

(४) भगवान्‌में श्रद्धा घटनेका कारण, जिनपर विश्वास नहीं करना चाहिये उनपर विश्वास करना, नास्तिकोंका संग करना और उसके परिणामकी ओर नहीं देखना ही है ।

(५) विषयोंका त्याग करनेमें असमर्थता तभीतक रहती है जबतक उनसे सुखकी आशा है ।

(६) भावकी शुद्धिसे मन शुद्ध होता है, भगवान्‌में श्रद्धा-विश्वास मनको शुद्ध बनानेमें सहायक हैं । भगवान्‌की कृपाशक्ति प्रत्येक मनुष्यको शुद्ध बनानेमें लगी है; पर मनुष्य अभिमानवश अपनेको उसके सम्मुख नहीं करता, अपनेको भगवान्‌की कृपापर नहीं छोड़ता । इसी कारण विलम्ब हो रहा है । दूसरोंके दोषोंका दर्शन, श्रवण, चिन्तन और वर्णन मनकी अशुद्धिको बढ़ाता है । अतः इसका त्याग परम आवश्यक है ।

(७) प्रामाणिक और शुद्धतापूर्वक कार्य करनेवालेको वह सफलताकी परिस्थिति नहीं मिलती, जो झूठ-कपट करनेवालेको मिलती है—यह मान्यता या ऐसा समझना निराधार और गलत है; क्योंकि बहुत-से ऐसे मनुष्य भी देखनेमें आते हैं, जो झूठ-कपट करनेके लिये सर्वथा तैयार हैं और करते हैं, तो भी वे महादरिद्री और दुखी हैं । और ऐसे लोग भी देखनेमें आते हैं, जो झूठ-कपट नहीं करते तो भी बड़े सम्पत्तिशाली हैं । साधकके जीवनमें तो सम्पत्ति या किसी प्रकारकी परिस्थितिका कोई महत्त्व ही नहीं रहना चाहिये ।

(८) जातिमें विषमता मनुष्यने स्वयं ही स्थापन कर ली है । परमात्माने जो कुछ किया है वह तो प्राणियोंके कर्मफल-भोगके अनुरूप उनके हितके लिये ही किया गया है ।

(९) अपना पूर्वजन्म जाननेकी इच्छामें कोई लाभ नहीं है, अतः इस इच्छाका त्याग कर देना चाहिये । पूर्वजन्म तो अनन्त हो चुके हैं ।

(१०) दुःखकी आत्यन्तिक निवृत्ति और मोक्षकी प्राप्तिके उपाय प्रभुपर अनन्य विश्वास, भक्ति, ज्ञान, वैराग्य और सदाचारका निष्कामभावसे पालन करना है ।

(११) भगवान् शंकर जिस कैलासमें निवास करते हैं वह कैलास एक तो उत्तराखण्डमें है, दूसरा मनुष्यके हृदयमें है । दोनों ही स्थानोंमें मनुष्य उनके दर्शन कर सकता है, पर इन चर्मचक्षुओंसे नहीं; उसके लिये श्रद्धा और विश्वाससे युक्त आँखें होनी चाहिये ।

(१२) जिस धर्मके ह्राससे भगवान्‌का अवतार होता है, वैसे ह्रासका समय अभी नहीं आया है; क्योंकि कलियुगका समय है । अभी तो अधर्म और भी बढ़ सकता है; जब आवश्यक होगा, तब भगवान् निश्चय प्रकट होंगे—इसमें संदेह नहीं । उनसे कुछ छिपा नहीं है ।

(१३) गीता अ० ४ श्लोक ३३ में जिस ज्ञानके प्राप्त होनेसे समस्त कर्मोंकी समाप्ति होनेकी बात कही गयी है, वह परमेश्वरका यथार्थ ज्ञान है । शास्त्रके पठन-पाठनका ज्ञान या साधनरूप ज्ञान नहीं है । एवं इसमें जो कर्मोंकी समाप्तिका वर्णन है वह भी क्रियाकी समाप्तिका नहीं, उनके द्वारा प्राप्त होनेवाले फलसहित शुभाशुभ कर्मोंके संस्कारकी समाप्तिका है ।

(१४) मृत व्यक्तिकी हड्डियाँ गङ्गाजीमें बहा देनेसे उसकी उत्तम गति होती है, ऐसा लेख शास्त्रसम्मत है; इसमें प्रधानता श्रद्धाकी है। रहस्य क्या है, यह तो भगवान् ही जानते हैं; मैं क्या लिखूँ ?

(१५) काम, अर्थ, भोगकी परिस्थितिकी प्राप्तिमें प्रारब्ध प्रधान है एवं धर्मपालनमें, मुक्तिमें पुरुषार्थकी प्रधानता है। प्रारब्धका फल मनुष्यको भोगना पड़ता है, तथापि मनुष्य साधनद्वारा उस फलभोगसे अतीत स्थिति प्राप्त करनेमें सर्वथा स्वतन्त्र है। यह साधनकी महिमा है।

(१६) मैं अंग्रेजीका विद्वान् नहीं हूँ, इस कारण आधुनिक विज्ञानके विषयमें आपने जिन विज्ञानवेत्ताओंकी मान्यता लिखी उनके विषयमें कुछ नहीं कह सकता। मूर्तिपूजाके विषयमें तो मेरा यही कहना है कि आस्तिक भक्त मूर्तिको निमित्त बनाकर अपने इष्टदेवकी पूजा करता है, धातु या पाषाणकी नहीं।

(१७) एक व्यक्तिमें यदि दो परस्परविरोधी भाव कालान्तरमें जाग्रत् हो ही जायँ तो जो भाव शास्त्र और विवेकके अनुसार हो, जिसमें किसीका अहित न हो, उसीका आदर करना चाहिये। शास्त्र और विवेकके विरोधी भावका त्याग कर देना चाहिये। गुजरात प्रान्तमें गोवधपर प्रतिबन्ध लगा दिया गया, यह अच्छी बात है।

मुझे गुरु नहीं मानना चाहिये, मैं किसीको शिष्य बनानेमें सर्वथा असमर्थ हूँ।

योगवासिष्ठ और भगवद्गीता

(लेखक—श्रीग० ना० बोधनकर एम्० ए०, एल्-एल्० बी०)

प्रस्तुत लेखमें योगवासिष्ठ और भगवद्गीताके कुछ विषयोंका तुलनात्मक विचार करना है। स्थानाभावसे यह विवेचन अति संक्षेपमें करना अनिवार्य है।

(१) इन ग्रन्थोंका रचनाकाल

हिंदुओंके अनेक प्राचीन धर्मग्रन्थोंके समान इन पूज्य ग्रन्थोंके रचनाकालके सम्बन्धमें भी विद्वानोंमें मतभेद है। डा० आत्रेय, दिवानजी, पं० र० भा० पावगी शास्त्री आदि विद्वानोंके मतसे योगवासिष्ठकी रचना गीता (अर्थात् भारत) के पूर्व हुई थी।[1] लोकमान्य तिलक और अन्य विद्वानोंके मतसे योगवासिष्ठकी रचना भारतके पश्चात् हुई।[2] महाभारतके अनुशासनपर्व ६। २ में धर्मराजने दैव और पुरुषार्थके विषयमें भीष्मसे प्रश्न किया था। उसका उत्तर देते हुए उन्होंने कहा था कि इसी सम्बन्धमें ब्रह्मदेव और वसिष्ठका एक संवादात्मक इतिहास विद्यमान है। इसपरसे अनुमान किया जाता है कि योगवासिष्ठका दैव-पुरुषार्थविषयक प्रकरण महाभारतके पूर्व रचा गया होगा। ऐसा भी अनुमान किया जाता है कि वर्तमान उपलब्ध बृहत् योगवासिष्ठ ग्रन्थ एक लघुतर आकारमें गीताके पूर्व विद्यमान था। ईस्वी सन् ८५० के लगभग काश्मीरी पण्डित गौड अभिनन्दाने योगवासिष्ठके ६००० सारभूत श्लोकोंका संग्रह कर 'लघुयोगवासिष्ठ'नामक ग्रन्थ तैयार किया था।[3] श्रीविद्यारण्यस्वामीकृत पञ्चदशी और जीवन्मुक्तिविवेकमें योगवासिष्ठका उल्लेख है। भवभूतिने विवर्तवादका उल्लेख किया है। उपनिषदों और गीतामें इस वादका उल्लेख नहीं है, किंतु योगवासिष्ठमें इसका विवेचन पाया जाता है। भर्तृहरिके ग्रन्थोंमें योगवासिष्ठके श्लोक पाये जाते हैं। वैसे ही, उनमें 'शब्दब्रह्म' का उल्लेख है, किंतु योगवासिष्ठमें वह नहीं पाया जाता। वैसे ही कालिदासके मेघदूतके कुछ शब्द योगवासिष्ठके निर्वाण-प्रकरण, उत्तरखण्ड, सर्ग ११९, श्लोक २—५में आये हैं। इसपरसे पण्डित पावगी अनुमान करते हैं कि उन कवियोंके और गौड अभिनन्दाके पूर्व योगवासिष्ठ विद्यमान रहा होगा। डा० भीखनलाल आत्रेय भी इस मतके हैं।[4] वैसे ही योग-

१. Paper on probable date of the composition of Yogavasishtha.

२. गीतारहस्य।

३. लघुयोगवासिष्ठके प्रकरण १—३ पर की 'आत्मसुख' टीका देखिये।

४. Yogavasishtha & its philosophy by Dr. B. L. Atreya.

वासिष्ठमें विज्ञानवाद, बौद्धोंके शून्यवाद, माध्यमिक आदिका उल्लेख है । वाल्मीकिके समय इनका होना असम्भव है ।[५]

योगवासिष्ठमें अर्जुनाख्यान—जैसे भविष्यकालीन कथनोंका उल्लेख है; किंतु इसपरसे यह नहीं कहा जा सकता कि योगवासिष्ठ ग्रन्थ भारतके पश्चात् रचा गया; क्योंकि उसमें भविष्यकालिक क्रियाओंका प्रयोग किया गया है ।[६] भारत और महाभारतके रचनाकालके सम्बन्धमें भी विद्वानोंमें मतभेद है ।[७] अस्तु । इन ग्रन्थोंके कालनिर्णयपर कालव्यय करना निरर्थक है । दोनों ग्रन्थ पुरातन और पूज्य हैं और उनका श्रद्धापूर्वक अध्ययन मनुष्यके लिये परम श्रेयस्कर है, यह निर्विवाद है ।

(२) इन ग्रन्थोंके नाम

इन दोनों ग्रन्थोंके नाममें 'योग' शब्द आया है । गीताके प्रत्येक अध्यायके अन्तमें उसे 'योगशास्त्र' कहा गया है । किंतु दोनों ग्रन्थोंमें यह शब्द एक ही अर्थमें व्यवहृत नहीं हुआ है । दोनों ग्रन्थोंका प्रतिपाद्य विषय है मोक्ष । उनमें मोक्ष और उसके उपायोंका विवेचन किया गया है । योगवासिष्ठमें 'योग' शब्द साध्य (अर्थात् आत्मसाक्षात्कारभूत सहजसमाधिस्थिति) और साधन (अर्थात् मोक्षोपाय)—इन दोनों अर्थोंमें व्यवहृत हुआ है ।[८]

महर्षि पतञ्जलिके 'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः' इस सूत्रमें 'योग' शब्द हठयोगद्वारा प्राप्त 'समाधि'के अर्थमें व्यवहृत हुआ है । किंतु योगवासिष्ठमें इसे जड और अचिरस्थायी समाधि कहकर इसकी अपेक्षा चेतनसमाधि अर्थात् आत्मसाक्षात्कारभूत, चिरकालिक सहजसमाधिस्थिति वा ज्ञानजन्य 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' मयी जीवन्मुक्तावस्थाको श्रेष्ठतर मानकर स्थिति-प्रकरणमें उसे 'महायोग' वा 'ब्रह्मयोग' कहा गया है ।[९] गीतामें 'योग' शब्द अनेक अर्थोंमें व्यवहृत हुआ है । उदाहरणार्थ—कर्मयोग, ज्ञानयोग, भक्तियोग, सांख्ययोग, 'समत्व', 'कर्मसु कौशलम्' इत्यादि । (गीताके प्रत्येक अध्यायके अन्तमें जो संकल्पात्मक वचन हैं उनमें, उस अध्यायकथित योग-विशेषका निर्देश किया गया है ।) तात्पर्य, गीतामें 'योग' शब्द साधन और साध्य अर्थात् मोक्ष और उसकी प्राप्तिके उपाय—इन दोनों अर्थोंमें व्यवहृत हुआ है ।

(३) प्रतिपाद्य विषय और विवेचनशैली

दोनों ग्रन्थोंका प्रतिपाद्य विषय है मोक्षप्राप्ति वा आत्मबोध और उसके उपाय या साधन । किंतु विवेचनपद्धति और विषयविस्तारकी दृष्टिसे योगवासिष्ठकी विवेचनपद्धति अधिक शास्त्रीय किंतु संवादात्मक और कथात्मक पौराणिक पद्धति है और उसकी भाषा क्लिष्ट और समासघटित और दृष्टान्त, उपमा आदिसे सुसज्जित है ।[१०] गीताकी भाषा सुबोध, सरल एवं मार्मिक है, और भावोंका व्यक्तीकरण प्रासादिक । योगवासिष्ठ विषयबाहुल्य और कथात्मकविस्तृत विषयविवेचनके कारण अतिविशाल किंतु मनोरञ्जक है; गीता सूत्ररूप किंतु हृदयस्पर्शी और परम तत्त्वपूर्ण है । दार्शनिक दृष्टिसे दोनों ही ग्रन्थ अलौकिक हैं ।

---

५. यच्छून्यवादिनां शून्यम्, विज्ञानमात्रं विज्ञानवादिनाम्, माध्यं माध्यमिकानाम्—इत्यादि (योगवासिष्ठ, उत्पत्ति-प्रकरण ५-६ और उपशम-प्र० ८७ । १८ । २८ ।

६. यो० वा० नि० प्र० पू० सर्ग ५२—५८ ।

७. Dr. A. D. Pusalkar's "Studies in the Puranas and Epics" देखिये ।

८. संसारोत्तरणे युक्तिर्योगशब्देन कथ्यते ।

(नि० प्र० उ० १३ । ३)

मोक्षोपायाभिधानेयं संहिता सारनिर्मिता ।

(यो० वा० २ । १७ । ६)

९. कूर्मपुराणमें भी कहा गया है—

यत्र पश्यति चात्मानं नित्यानन्दं निरञ्जनम् ।
मत्यैक्यं स महायोगो भावितः परमः स्वयम् ॥

(उत्तरभाग ११ । ६)

१०. दृष्टान्तेन विना राम नापूर्वार्थोऽवबुध्यते ।

(यो० वा० २ । १८ । ५१)

येनेहाननुभूतेऽर्थे दृष्टेनार्थेन बोधनम् ।
बोधोपकारफलदं तं दृष्टान्तं विदुर्बुधाः ॥

(यो० वा० २ । १८ । ५०)

किंतु ब्रह्म 'निर्विकल्पमनन्तं च हेतुदृष्टान्तवर्जितम्' होनेसे

ब्रह्मोपदेशे दृष्टान्तो यस्तवेह हि कथ्यते ।
एकदेशसधर्मत्वं तत्रातः प्रतिगृह्यताम् ॥

(यो० वा० २ । १८ । ५४)

—ऐसी श्रीवसिष्ठने चेतावनी दे रखी है ।

(४) उपक्रमोपसंहार

अर्जुनके 'कश्मल'के निवारणार्थ गीताका अवतार हुआ तो श्रीरामकी स्वभावसिद्ध विरक्तिके निवारणार्थ वसिष्ठ श्रीराम-संवाद (अर्थात् योगवासिष्ठ) का। स्वजनहत्यादोषसे भयभीत अर्जुन **'न योत्स्ये'** कहता है तो सहजसमाधितल्लीन होनेसे श्रीरामको यज्ञरक्षणार्थ विश्वामित्रके साथ भेजना कठिन होता है। अर्जुन अज्ञानके कारण अपने क्षात्रधर्मका पालन करनेमें असमर्थ हुआ तो श्रीराम आत्मसाक्षात्कारजन्य पूर्ण असंसक्ति वा अनासक्तिके कारण। वर्णाश्रमविहित स्वधर्मका पालन करनेमें अर्जुनको प्रवृत्त करनेके लिये गीताका और श्रीरामको प्रवृत्त करनेके लिये योगवासिष्ठका प्रादुर्भाव हुआ।

उपसंहारकी दृष्टिसे भी दोनों ग्रन्थोंमें सादृश्य है। दोनों उपदेशकोंके हेतु सफल हुए। गीताश्रवणके परिणामस्वरूप अर्जुन कहते हैं **'नष्टो मोहः', 'स्थितोऽस्मि गतसंदेहः', 'करिष्ये वचनं तव'** इत्यादि। इन्हीं वचनोंके सदृश श्रीरामके भी मुखसे वचन निकलते हैं।[११]

(५) उपदेशककी भूमिका

अर्जुन और श्रीराममें साधककी दृष्टिसे कितना अन्तर था, यह हम ऊपर देख चुके हैं। दोनों उपदेशक किंतु पूर्ण ज्ञानी और ब्रह्मनिष्ठ गुरुपदाधिकारी हैं। तथापि वसिष्ठ सांख्य-योगी, राजयोगी वा 'महायोगी' हैं तो भगवान् श्रीकृष्ण योगीश्वर, महान् कर्मयोगी, 'योगेश्वर' और स्थितप्रज्ञ हैं।

गीतामें स्वयं भगवान् उपदेशक बने हैं तो योगवासिष्ठमें स्वयं भगवान्ने यह भूमिका महर्षि श्रीवसिष्ठको प्रदान की है।

(६) शिष्यकी योग्यता

अर्जुनकी अपेक्षा श्रीरामकी योग्यता कहीं अधिक है। वे चतुःसाधनयुक्त अधिकारी साधकोंसे भी श्रेष्ठतर, पूर्ण विरक्त और ज्ञानी हैं। अर्जुन भी श्रेष्ठ अधिकारी साधक थे, किंतु श्रीराम-जैसे स्वभावतः विरागी और अचल स्थितप्रज्ञ नहीं। यही कारण है कि उनके अज्ञानपटलध्वान्तका विनाश सदाके लिये नहीं हुआ और भारतीय युद्धके बाद भगवान्को उन्हें पुनः अनुगीता सुनानी पड़ी! इस सम्बन्धमें और भी एक बात उल्लेखनीय है। मोहग्रस्त अर्जुनका हठ था 'न योत्स्ये'। किंतु श्रीरामका कोई भी हठ नहीं था। न वे कर्तव्यपराङ्मुख थे, न स्वकर्तव्योंसे अपरिचित। वे शुक्राचार्य-सदृश सदा-सर्वदा सहजसमाधिस्थ अभेददृष्टि और समदृष्टि थे[१२]। उनकी केवल आकांक्षा थी मनःशान्तिको अभंग रखना[१३]। वे सर्वदा इच्छारहित, आत्मसंतुष्ट, 'अनासक्त' और 'असंसक्त' थे। वैसे ही, गीतोपदेशसे अर्जुनमें ज्ञानोदय अवश्य हुआ, किंतु वह चिरन्तन और अक्षुण्ण न रहा।

मनुष्यकी स्वाभाविक प्रवृत्ति या प्रयत्न तथा रसाभि-निवेशके अनुसार ज्ञान या अज्ञानकी भूमिकाएँ फलरूप होती हैं। पूर्व-संस्कारानुरूप अज्ञानी जीव विषयमें आसक्त और विषयसुखमें लोलुप होता है, तो ज्ञानी अनासक्त और मोक्षेच्छु। योगवासिष्ठमें ज्ञान और अज्ञानकी सात भूमिकाओंका वर्णन आया है।

(७) अज्ञानकी सप्त भूमिकाएँ

(१) बीजजाग्रत्, (२) जाग्रत्, (३) महाजाग्रत्, (४) जाग्रत्स्वप्न, (५) स्वप्न, (६) स्वप्नजाग्रत् और (७) सुषुप्ति—ये अज्ञानकी सप्त भूमिकाएँ[१४] हैं।

(८) ज्ञानकी सप्त भूमिकाएँ

योगवासिष्ठमें ज्ञानकी (१) शुभेच्छा, (२) विचारणा, (३) तनुमानसा, वा असंगभावना, (४) सत्त्वापत्ति वा विलापनी, (५) असंसक्ति, (६) पदार्थाभावनी या तुर्या और (७) तुर्यगा—ये ज्ञानकी सप्त भूमिकाएँ कही गयी हैं।[१५] इनमेंसे प्रथम तीन भूमिकाओंको 'जाग्रत्' कहते हैं; क्योंकि इनमें जगत्की सत्ताका संवेदन होता है। इन तीन अवस्थाओंमें स्थित पुरुषको 'आर्य' कहते हैं[१६]।

---

११. यो० वा० नि० प्र० उ० सर्ग २१४।

१२. मुमुक्षुप्रकरण, सर्ग ११ देखिये।

१३. वैराग्यप्रकरण, सर्ग २७ देखिये।

१४. उत्पत्तिप्रकरण, सर्ग ११७ देखिये।

१५. योगवासिष्ठ उत्पत्तिप्र० ११८। ५-६।
निर्वाण प्र०पू० सर्ग १२० में प्रथम भूमिकाको 'प्रज्ञावृद्धि', ५वीं भूमिकाको 'शुद्धसंविन्मय' वा 'आनन्दरूपा', ६ठीको 'स्वसंवेदनरूपा' और ७ वींको 'तुर्यातीता' कहा गया है। नि० प्र० पू० सर्ग १२६ भी देखिये।

१६. योगवासिष्ठ नि० प्र० पू० १२६। ५४-५५ देखिये—

कर्तव्यमाचरन् कार्यमकर्तव्यमनाचरन्।
तिष्ठति प्राकृताचारो यः स आर्य इति स्मृतः॥
यथाचारं यथाशास्त्रं यथाचित्तं यथास्थितम्।
व्यवहारमुपादत्ते यः स आर्य इति स्मृतः॥

योगीका यह 'आर्यत्व' प्रथम भूमिकामें अङ्कुरित होता है, द्वितीय भूमिकामें विकसित होता है और तीसरी भूमिकामें फलरूप होता है। चतुर्थ भूमिकामें योगीको आत्मसाक्षात्कारका अनुभव होता है। उससे उसका चित्त सद्रूप हो जाता है। अतः उसे 'सत्त्व' कहते हैं[१७], और इस भूमिकाको 'सत्त्वापत्ति' कहते हैं। उसे जगत्का संवेदन 'प्रातिभासिक' सत्तासे होता है; अतः इस भूमिकाको 'स्वप्नसदृशी' भी कहते हैं। इस भूमिकामें आरूढ़ साधकको 'ब्रह्मवित्' कहते हैं। पाँचवीं भूमिकामें स्थित साधकको जीवन्मुक्त या 'ब्रह्मविद्वर' कहते हैं। ऐसा ब्रह्मनिष्ठ योगी गुरु होनेका अधिकारी होता है[१८]। छठी भूमिकामें स्थित योगीको 'ब्रह्मविद्वरीय' कहते हैं। उसकी स्थिति सुषुप्त पुरुषके समान होती है। सप्तम भूमिकास्थित योगीकी द्वैतभावना पूर्णतया नष्ट हो जाती है और उसे 'ब्रह्मविद्वरिष्ठ' कहते हैं।

इन सप्त भूमिकाओंको पार करनेवाले महायोगीका प्रारब्ध क्षय होकर देहपात होनेपर उसे विदेहमुक्ति मिलती है। यही गीतोक्त ब्राह्मी स्थिति है, जिसे प्राप्त करनेपर योगी पुनः मोहको प्राप्त नहीं होता—'न विमुह्यति'[१९]। गीतामें इन सप्त भूमिकाओंका सविस्तर विवेचन नहीं आया है, किंतु प्रसंगानुसार इन भूमिकाओंमें स्थित योगीके लक्षणोंका वर्णन पाया जाता है। इस विषयमें दोनों ग्रन्थोंमें साम्य है।

(९) सिद्धोंके प्रकार और व्यवहार

ज्ञानी पुरुष दो प्रकारके होते हैं—(१) कर्मयोगी और (२) सांख्ययोगी। याज्ञवल्क्य, कपिल, शुकाचार्य, भृगु, भरद्वाज-जैसे सांख्ययोगी स्वभावतः निवृत्तिपर होनेसे सदा चिदात्मरूपतल्लीन और आत्मसंतृप्त होते हैं और प्रारब्ध-क्षय होनेतक संन्यस्तवृत्तिसे जीवन बिताते हैं। श्रीराम×, जनक, प्रह्लाद, मनु-जैसे कर्मयोगी भी पूर्ण विरक्त और ज्ञानी होते हैं और निष्कामबुद्धिसे लोकसंग्रहार्थ स्ववर्णाश्रम-विहित कर्तव्योंका पालन करते हैं। इन दोनों प्रकारके योगियोंके व्यवहार उनके स्वभाव, पूर्वसंस्कार, प्रारब्ध और सहजप्राप्त परिस्थितिके अनुसार हुआ करते हैं; किंतु वे कर्मोंसे बद्ध नहीं होते। देहावसानके अनन्तर दोनों प्रकारके योगियोंको विदेहमुक्ति प्राप्त होती है। दोनोंको एक ही दिव्यगति अर्थात् मोक्षकी प्राप्ति होती है[२०]। गीतामें भी इन दो प्रकारके ज्ञानियोंका वर्णन आया है। वसिष्ठको ज्ञानोत्तर कर्मयोग अधिक अभिमत है[२१]। गीतामें भी भगवान्ने कहा है—

तयोस्तु कर्मसंन्यासात्कर्मयोगो विशिष्यते।

भागवतोक्त भागवतोत्तम भी इसी श्रेणीके होते हैं[२२]।

(१०) ज्ञानका स्वरूप

'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या' इस भावको गीतामें ज्ञान वा 'सम्यक् ज्ञान' और योगवासिष्ठमें 'सम्यगवेक्षण' कहा गया है। गीतामें और योगवासिष्ठमें ज्ञानयोग, सांख्ययोग और राजयोग प्रायः पर्यायवाची हैं। तैसे ही दोनों ग्रन्थोंमें कहा है—'एकं सांख्यं च योगं च'[२३]।

(११) ब्रह्म, जीव और ब्रह्मज्ञ

ब्रह्म, जीव और ब्रह्मज्ञके स्वरूपके विषयमें दोनों ग्रन्थोंमें मतैक्य है। जीवका अमरत्व और जीव और ब्रह्मका ऐक्य दोनोंको मान्य हैं। दोनों ब्रह्मको एकमात्र सत् तथा जगत्का अधिष्ठान मानते हैं, किंतु गीताके मतसे सांख्य-शास्त्रोक्त प्रक्रियानुसार परमात्मा अपनी त्रिगुणात्मिका प्रकृतिके द्वारा जगत्की उत्पत्ति और संहार करता है। इस दृष्टिसे जगत् सत्य है। योगवासिष्ठके मतसे जगत्की उत्पत्ति ही नहीं होती। वह मूलमें ही मिथ्या है। जगत्का जो संवेदन होता है वह चिद्रूप परब्रह्मकी चिच्छक्तिका विकास-मात्र है। अतः जगत्के स्वतन्त्र अस्तित्वके मिथ्याभासके निरासका ही नाम ज्ञानोत्पत्ति है।

---

१७. ज्ञचित्तं सत्त्वमुच्यते।

१८. मुण्डकोपनिषद् १।२।१२ देखिये।

१९. आसामन्ते स्थिता मुक्तिस्तस्यां भूयो न शोच्यते।
योगवासिष्ठ नि० प्र० पू० ११८।७

× श्रीराम तो स्वयं भगवान् ही हैं, उनकी विरक्ति या ज्ञान तथा मोक्षकी कथा लोकसंग्रहार्थ लीला है।

२०. योगवासिष्ठ नि० पू० ६९।१८, १९, २९। नि० पू० १३।३। गीतारहस्यका 'सिद्धावस्था व व्यवहार' प्रकरण १२ देखिये।
गीता—५।५।

२१. 'धर्मेण राज्यमनुपालय तीर्णतृष्णः'—यो० वा० नि० उ० २१३।५०।

२२. श्रीमद्भागवत ११।२।

२३. यो० वा० नि० पू० ६९।२९।
गीता—५।५।

(१२) ज्ञान, सांख्य और योग

गीता और योगवासिष्ठमें 'सांख्य' और 'ज्ञान'—ये शब्द प्रायः एक ही अर्थमें व्यवहृत हुए हैं । वैसे ही दोनोंके मतसे 'एकं सांख्यं च योगं च' । किंतु 'योग' शब्द दोनों ग्रन्थोंमें एक ही अर्थमें व्यवहृत नहीं हुआ है, यह हम ऊपर देख चुके हैं । पतञ्जलिने यह शब्द चित्तवृत्तिनिरोधरूप 'समाधि'के अर्थमें किया है तो योगवासिष्ठमें यह शब्द आत्मसाक्षात्कारभूत सहज-समाधिस्थिति (अर्थात् साध्य) तथा मोक्षोपाय (अर्थात् साधन) के अर्थमें व्यवहृत हुआ है—यह हम ऊपर देख चुके हैं । वसिष्ठका मत है कि चित्त-शुद्धिके लिये निष्काम कर्मयोग आवश्यक है, किंतु ब्रह्मज्ञानकी प्राप्तिके लिये वह विशेष उपादेय नहीं होता । मोक्षसाधनके अर्थमें 'योग' शब्दमें कर्मयोग और भक्तियोगका अन्तर्भाव होता है । गीतामें कर्मयोग, भक्तियोग और ज्ञानयोग 'साधन' वा मोक्षोपायके अर्थमें लिये गये हैं । योगवासिष्ठके अनुसार सांख्य और योग—इन दोनोंमेंसे किसी एकके भी द्वारा ज्ञानप्राप्ति हो सकती है । पतञ्जलिके अनुसार चित्तवृत्ति-निरोध मोक्षका साधन है और तज्जनित 'समाधि' योगीका साध्य (अर्थात् मुक्ति) है । किंतु वसिष्ठके मतसे हठयोगजन्य समाधिस्थिति अस्थायी होनेकी सम्भावना रहती है । अतएव वह ज्ञानोत्तर सहजसमाधिस्थितिसे गौण है । इस आत्म-साक्षात्कारभूत सहजसमाधिस्थितिको वे सम्यगवेक्षण वा 'चित्तनाश' कहते हैं । गीतामें इस सम्यगवेक्षणको 'सम्यक्-ज्ञान' कहा गया है । गीतामें 'योग' शब्द विभिन्न अर्थोंमें किस प्रकार व्यवहृत हुआ है, यह हम ऊपर देख चुके हैं ।

(१३) चित्तनाशके मार्ग

'चित्तनाश'के दो मार्ग हैं—(१) ज्ञान और (२) योग[२४] । 'योग' चित्तवृत्ति-निरोधक है, तो ज्ञान सम्यगवेक्षण या सर्वत्र अभेदका दाता । वसिष्ठ 'चित्तत्याग' या हठयोगकी अपेक्षा 'चित्तनाश' अथवा सम्यगवेक्षणको अधिक पसंद करते हैं ।[२५]

ज्ञानसे वासनाक्षय, 'असंसक्ति' वा 'अनासक्ति' उत्पन्न होकर पुरुष जीवन्मुक्त होता है । गीतामें कर्मयोग, भक्तियोग और ज्ञानयोग—ये मोक्षके मार्गत्रय वर्णित हैं । दोनों ग्रन्थोंका मत है कि आत्मसाक्षात्कारके बिना मुक्ति नहीं होती । केवल 'संसार असत् है, जगत् मिथ्या है' ऐसी रटना करनेसे 'संसृतिर्न निवर्तते' ।[२६]

(१४) 'योग' का स्वरूप

'योग' के स्वरूपके विषयमें गीता और योगवासिष्ठमें किंचित् अन्तर है । शरीरान्तः-संचारी प्राणवायुकी हलचलसे शरीरकी स्थितिमें वैचित्र्य उत्पन्न होता है । इस वैचित्र्यकी दृष्टिसे ही प्राणवायुको अपान, उदान आदि विभिन्न नाम दिये गये हैं, अर्थात् ये अपानादि वायु प्राणवायुके ही वृत्तिभेद हैं ।

प्राण चित्तका आधार होनेसे प्राणवायुके स्पन्दसे संकल्पोद्यत होनेवाली संवित्कलाका ही नाम चित्त है । अर्थात् प्राणके परिस्पन्दका ही नाम चित्त है । अतः प्राणवायु-का निरोध करनेसे चित्तका निरोध होता है । योगद्वारा धारणा और ध्यानका अभ्यास कर परमात्मामें चित्त एकाग्र अर्थात् विलीन करनेसे और ॐकारका दीर्घकालतक उच्चारण करके उसके शेष वा अन्त्य नादमें बाह्यविषयोंका भाव पूर्णतया विलीन कर देनेसे भी प्राणस्पन्दका निरोध होता है । गीतामें भी इस प्रकारका मत व्यक्त किया गया है, किंतु विस्तारसे नहीं । इस प्रकार समाधि प्राप्त करनेवाले योगीको योगवासिष्ठमें 'योगयोगी' कहा गया है ।[२७]

(१५) योगसिद्धि

यदि योगाभ्यासीकी मृत्यु ज्ञानोत्पत्तिके पूर्व हो जाय तो वह स्वर्गमें नाना प्रकारके सुखोंका उपभोग करके पवित्र और श्रेष्ठ कुलमें जन्म लेता है ।[२८] इस प्रकार ज्ञानकी उत्तरोत्तर भूमिकामें अग्रसर होकर अन्तमें वह सप्तम भूमिकाको पार करके विदेहमुक्ति पाता है ।

---

२४. द्वौ क्रमौ चित्तनाशस्य योगो ज्ञानं च राघव ।
योगस्तद्वृत्तिरोधो हि ज्ञानं सम्यगवेक्षणम् ॥
(यो० वा० ५ । ७८ । ८)

२५. चित्तत्यागादहं मन्ये चित्तनाशः सुसिद्धये ।
(नि० पू० ९४ । ९२ और १३ । ८)

२६. भागवत स्कन्ध ११

२७. प्राणाद्यनिलसंशान्तौ युक्त्या ये पदमागताः ।
अनामयमनाद्यन्तं ते स्मृता योगयोगिनः ॥
(नि० पू० ६९ । ७९)

२८. गीता (६ । ४०–४४) (योगवासिष्ठ नि० पू० १२६ । ४०–५७)

(१६) पुनर्जन्म

पुनर्जन्ममें योगवासिष्ठ और गीता दोनोंकी मान्यता है। जीव स्वकर्मानुसार ऊर्ध्व, मध्य और अधः लोकोंमें जाता है।[29] उपनिषदोंमें देवयान और पितृयान मार्गोंका वर्णन है और गीतामें शुक्ल और कृष्ण मार्गोंका।[30] किंतु वसिष्ठ इन यानों और मार्गोंकी बात नहीं कहते। उनके मतसे जीव जिस स्थानपर देहत्याग करता है उसी जगहपर आगामी जन्मकी सभी कल्पनाओंका उसे अनुभव होता है।[31] मृत्युका स्वरूप और मृत्युके पश्चात्‌की स्थितिका योगवासिष्ठमें सविस्तर वर्णन आया है।[32] Rational Mysticism नामक अपने ग्रन्थमें Kingsway ने भी यही मत व्यक्त किया है।[33] मेजर आर्थर पॉवेल, कोनान डायल आदिके ग्रन्थोंमें यही विषय वर्णित है।

(१७) मृत्युका स्वरूप

दोनों ग्रन्थोंका मत है कि जीव अमर है और मृत्यु देहान्तरमात्र।[34] मृत्युके बाद जीव देशकालान्तरसे पुनः-पुनः किसी-न-किसी देहकी कल्पना कर उत्पन्न होता है।[35]

---

२९. गीता १४। १८।

३०. गीता ८। २४–२६।

३१. योगवासिष्ठका उपाख्यान देखिये।

३२. यो० वा० ५। ४०। १; ५। ७१। ६५; ३। ५४। ९; ३। ४०। ४५; नि० उ० १०१। २५–२६; १८। १ इत्यादि।

३३. इस समय भी पूर्वजन्मकी स्मृतिके कुछ उदाहरण विद्यमान हैं। वैसे ही, अमेरिकन और रूसी मानवोंके जीवोंके परस्पर कायाप्रवेशका भी उदाहरण है। पाश्चात्त्य विद्वानोंकी Spiritualism पर की गयी गवेषणाओंसे पुनर्जन्मवादको ही पुष्टि मिलती है।

३४. देहान्तरार्थं देहस्य स त्यागो मरणं स्मृतम्।
(यो० वा० ५। ४०। १)

गीता—वासांसि जीर्णानि यथा विहाय
नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि।
(यो० वा० नि० उ० १८। १)

३५. यो० वा० ५। ७१। ६५।

(१८) आयुर्मर्यादा

ईशकृत सृष्टिनियम या 'नियति' के अनुसार मानवकी आयु कृत, त्रेता, द्वापर और कलियुगमें क्रमशः ४००, ३००, २०० और १०० वर्ष होती है—ऐसा योगवासिष्ठमें कहा है।[36] किंतु मनुष्यके कर्मके अनुसार यह मर्यादा न्यूनाधिक होती है।

'कर्मणा जायते जन्तुः कर्मणैव विलीयते।'

यथाशास्त्र स्वकर्मानुष्ठानसे मनुष्य पूर्णायु होता है और निषिद्ध-कर्माचरणसे आयुका ह्रास होता है।[37] गीतामें इस विषयका विवेचन नहीं है

(१९) मृत्युके बाद जीवकी गति

शुभाशुभ कर्मानुसार जीवोंके महापापी, मध्य पापी, और सामान्य पापी तथा महापुण्यवान्, मध्य पुण्यवान् और सामान्य पुण्यवान्—ये छः प्रकार कहे गये हैं। ये स्वकर्मानुसार स्वर्ग वा नरकमें सुख-दुःखोंका उपभोग करनेके बाद अन्नके रूपसे मनुष्यके शरीरमें प्रवेशकर रेतोरूप होकर पुनः जन्म लेते हैं, ऐसा वसिष्ठजीका मत है। गीतामें यह वर्गीकरण नहीं पाया जाता।

(२०) अर्जुनाख्यान

योगवासिष्ठमें अर्जुनाख्यान आया है, जो महाभारतीय कथासे मिलता-जुलता है। योगवासिष्ठके संवादोंका सम्बन्ध है। इसलिये उसमें भविष्यकालिक क्रियाओंका उपयोग किया गया है।[38] इस आख्यानमें गीताके सत्ताईस श्लोक पाये जाते हैं। इस आख्यानमें श्रीवसिष्ठने जो असंसक्ति या अनासक्तियोगका वर्णन किया है, उसका गीतोक्त ज्ञानी पुरुषकी अवस्थाके वर्णनसे बहुत सादृश्य है। पं. र. भा. पावगी शास्त्रीका मत है कि ये २७ श्लोक गीतासे लिये गये हैं (न कि योगवासिष्ठसे गीतामें)।

(२१) श्लोक और विषयका सादृश्य

गीताके अध्याय २, ३, ४, ५, ६, ७, ९, १०, १३, १४, १५, १६ और १८ के कुछ श्लोक योगवासिष्ठमें पाये जाते हैं। किंतु यह कहना कठिन है कि ये श्लोक किस ग्रन्थमें प्रथम रचे गये और दूसरे ग्रन्थमें कब उठा लिये गये। किंतु

---

३६. यो० वा० उ० सर्ग ५४।

३७. यो० वा० ३। ५४। ३०–३२।

३८. योगवासिष्ठ, नि. पू. सर्ग ५२।

इस श्लोकसादृश्यपरसे तद्गत विषयोंके सम्बन्धमें दोनों ग्रन्थोंके मतसादृश्यकी कल्पना हो सकती है। इन श्लोकोंमें वर्णित विषय ये हैं—(गीता, अ० २ और योगवासिष्ठ, निर्वाण० पू० ५२ । ५४-५५)

सर्वव्यापक, अज, अव्यय, अविनाशी एकमात्र सत्य ब्रह्मका स्वरूप; जगत्का मिथ्यात्व, इन्द्रियजन्य बाह्य जगत्के संवेदनोंका और देहोंका अनित्यत्व; फलाशारहित स्वधर्मानुष्ठानकी आवश्यकता; अकर्मत्वका निषेध; योगस्थ और असंग होकर कर्माचरण; अज्ञानी और संयमी मुनिके लक्षण इत्यादि (गीता अ० ३ और योगवासिष्ठ नि० पू० ५३ । ५४ और नि० उ० ३७ । ३६)

मिथ्याचार, अहंकर्तृत्व, अनासक्ति, अनासक्त होकर कर्तव्यपालनकी विशेषता, त्रिगुणात्मिका प्रकृतिका कार्य। (गीता अ० ४ और योगवासिष्ठ नि० पू० ५४ । २५–२८)

कर्मफलासंग, योगीका नित्यतृप्तत्व और अनहंकारिता (गीता अ० ५ और योगवासिष्ठ नि० पू० ६९।२१ और ५३।९)

सांख्य और योगकी अभिन्नता, सांख्य और योगके द्वारा प्राप्त होनेवाली गतिकी एकता, आत्मशुद्धिके लिये निष्कामकर्मकी उपादेयता।

(गीता अ० ६ और योगवासिष्ठ नि० पू० ५३ । ४३-४४)

मानवका स्वयं ही अपना बन्धु या शत्रु होना, ज्ञानीका सर्वभूतोंमें आत्माको और आत्मामें सर्वभूतोंको देखना अर्थात् सर्वात्मदृष्टि।[३९]

(गीता ७४ और योगवासिष्ठ नि० पू० ५५।१८)

अष्टधा प्रकृति।

(गीता अ० ९ और योगवासिष्ठ नि० पू० ५४।२ तथा ५४ । ३४)

कर्मार्पणयोग, अनन्यशरणागति, आत्मसमर्पण। इसीको भागवतमें अहैतुकी भक्ति कहा गया है।[४०]

(गीता अ० १० और योगवासिष्ठ नि० प्र० पू० ५४।१ और नि० प्र० उ० १६३ । ४०, ४१)

ईश्वरभक्ति, ईश्वरमें चित्त, प्राण और बुद्धिकी तन्मयता। (गीता अ० १३ और योगवासिष्ठ नि० पू० ७४।२८–३० नि० उ० १४ । ९–११)

अनासक्तियोग, एषणाराहित्य, एकान्तवासका महत्त्व, परमात्माका निर्गुणत्व, सर्वव्यापकत्व और अतीन्द्रियत्व, ज्ञान और अज्ञानका स्वरूप; ज्ञानीका समचित्तत्व और समदर्शिता; अव्यभिचारिणी भक्ति।

(गीता, १४ । २२ और योगवासिष्ठ २ । १८ । ३०)

सत्त्वगुणके कार्यरूप प्रकाश, रजोगुणके कार्यरूप प्रवृत्ति और तमोगुणके कार्यरूप मोहकी प्रवृत्ति वा निवृत्तिमें ज्ञानीकी उदासीनता।

(गीता १५।५ और योगवासिष्ठ नि० प्र० उ० ५३।६६, और १५३ । ५८)

अव्ययपदप्राप्त ज्ञानीका वर्णन।

(गीता १६ । १४ और योगवासिष्ठ ३ । २७ । २४)

जीव-ब्रह्मैक्य।

(गीता १८ । १७ और योगवासिष्ठ नि० पू० ५३ । २)

ज्ञानीकी अनासक्ति और निरहंकारिता और कर्माकर्म-दोष-राहित्य।

दोनों ग्रन्थोंके उपदेशका साफल्य दोनों शिष्योंके मुखसे व्यक्त होता है।

गीता १८ । ७३ में अर्जुन अपनेको 'गतसंदेह' कहकर स्वकर्म करनेके लिये तत्पर हो जाते हैं। यही भाव श्रीरामके मुखसे योगवासिष्ठ नि० पू० ५८ । १ में व्यक्त हुआ है।

गीता और योगवासिष्ठमें और भी कुछ विषयोंका सादृश्य या वैदृश्य पाया जाता है। गीताके समान योगवासिष्ठमें भी **'कर्मसंन्यासात् कर्मयोगो विशिष्यते'** ऐसा मत व्यक्त किया गया है। गीतामें 'आतिवाहिक देह', वसिष्ठोक्त साधन-चतुष्टय,' दैवसे पौरुषकी श्रेष्ठता, 'नियति', गुणानुसार उत्तम, मध्यम और कनिष्ठ अर्थात् विधिसृष्टि, देवसृष्टि और मानव-सृष्टि और तदन्तर्गत व्यष्टिजीवोंके तीन प्रकार (जिनके उपाधिभेदोंसे १४ प्रकार कहे गये हैं),[४१] मरणोत्तर जीवकी विभिन्न गतियाँ, सिद्धिसामर्थ्य और उसकी प्राप्तिके उपाय, अजातवाद, विवर्तवाद, शून्यवाद, ज्ञान और अज्ञानकी सप्त भूमिकाएँ इत्यादि विषयोंका विवेचन नहीं किया गया है, न उन सबका सविस्तर वर्णन करना आवश्यक या सम्भव था। इसका कारण यह है कि गीताका अवतार युद्धक्षेत्रमें अर्जुनको मोहमुक्तकर वर्णाश्रमविहित स्वधर्माचरणमें प्रवृत्त करनेके लिये हुआ! अतएव गीताशास्त्रीय पद्धतिका विस्तृत

३९. श्रीमद्भागवत ११ । २ और ११ । १९

४०. श्रीमद्भागवत ११ । १२

४१. योगवासिष्ठ० उत्पत्तिप्र० सर्ग ९४ और स्थितिप्र० ५९ । ६१ देखिये।

और सर्वविषय-प्रतिपादक अध्यात्मग्रन्थ होना सम्भव नहीं था, न आवश्यक ही। तथापि देश-काल, परिस्थिति और उद्देश्यकी दृष्टिसे गीता-जैसा सहज-सुन्दर, मार्मिक, प्रभावोत्पादक सुबोध और गूढ़तत्त्वबोधक अन्य अध्यात्मग्रन्थ नहीं है। वैसे ही अध्यात्मविद्याका विस्तृत और शास्त्रीय विवेचन करनेवाला योगवासिष्ठ एक बेजोड़ ग्रन्थ है। दोनों ग्रन्थ अत्यन्त श्रद्धेय, कल्याणकारक और मननीय हैं और हिंदुओंके श्रेष्ठ तत्त्वज्ञानके निदर्शक हैं।

गीता—एक राजशास्त्र

(लेखक—श्रद्धेय पं० श्री० दा० सातवलेकर महोदय)

श्रीमद्भगवद्गीतामें राज्यशासनका आदेश है, यह पढ़कर बहुत-से लोग आश्चर्यचकित होंगे। पर यह एक तथ्य है, जो थोड़ा विचार करनेपर पाठकोंको ज्ञात हो सकेगा। गीताके प्रारम्भमें ही ''धृतराष्ट्र उवाच'' वाक्यसे राजनीतिका संकेत किया गया है। सब लोग जानते हैं कि ''धृतराष्ट्र'' एक राजा था, पर वह ''धृत-राष्ट्र'' था।

''धृतं अन्यस्य राष्ट्रं येन स धृतराष्ट्रः''

जो अपने पाशविक बलसे दूसरोंका राज्य छीनकर उनपर शासन करता है, वह ''धृतराष्ट्र'' है। दूसरोंके राज्योंको बलपूर्वक अपने अधीन करना साम्राज्यवादका चिह्न है और साम्राज्यवादका राजनीतिसे स्पष्ट सम्बन्ध है। एक राजाका दूसरोंके राज्योंको अपने अधीन रखना भी राज्यशासनकी दृष्टिसे एक अपराध ही है। इस तरह इस ''धृत-राष्ट्र'' पदमें साम्राज्यवादका दोष सहज ही प्रकट हो रहा है। यह धृतराष्ट्र अन्धा है। साम्राज्यवादी अन्धे होते ही हैं, इसमें संदेह नहीं; क्योंकि उनको अपने अधीनस्थ लोगोंमें छिपी हुई मानवता नहीं दीखती। वे अपने अधीनस्थ लोगोंके आराम और सुखकी ओरसे आँखें मूँद लेते हैं। धृतराष्ट्र भी साम्राज्यवादी होनेके कारण अन्धा हो, अथवा शारीरिक दृष्टिसे अन्धा हो, वह पाण्डवोंके मानवताके अधिकारोंको देखता नहीं था—यह सत्य है।

''धृत-राष्ट्रों'' के साथ ''हृत-राष्ट्रों''का सम्बन्ध होता ही है। किसी दूसरेका राष्ट्र अपने अधिकारमें किये बिना एक व्यक्ति ''धृतराष्ट्र'' बन ही नहीं सकता। यह कौरव राजा ''धृत-राष्ट्र'' है और पाण्डव ''हृत-राष्ट्र'' हैं। सदासे ही ''धृत-राष्ट्र'' और ''हृत-राष्ट्रों''के बीच संग्राम होता आया है। इस प्रकार राज्य-शासनका एक तत्त्व ''धृतराष्ट्र'' पदसे ही व्यक्त होता है।

इस प्रकार विचार करनेसे राज्य-शासनके और भी अनेकों तत्त्व प्रकट हो सकते हैं।

''धृत-राष्ट्र'' सदा डरता रहता है कि कहीं ''हृत-राष्ट्र'' पाण्डव उसके साथ युद्ध करके इसके अपने अधीन किये हुए साम्राज्यका नाश करके अपने स्वतन्त्र राष्ट्रकी सत्ताकी घोषणा न कर दें। यह ''धृत-राष्ट्र''का डर गीताके इस प्रथम श्लोकमें ही स्पष्ट हो रहा है—

धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे समवेता युयुत्सवः।
मामकाः पाण्डवाश्चैव किमकुर्वत संजय ॥ १ ॥

''यह कुरुक्षेत्र एक धर्मक्षेत्र है। यहाँ युद्धकी इच्छासे उपस्थित हुए मेरे और पाण्डुके पुत्रोंने क्या किया? क्या वे धर्मक्षेत्रके नामसे प्रभावित होकर युद्धसे पराङ्मुख हो गये या युद्ध करने लगे?''

साम्राज्यवादियोंको जो चिन्ता रहती है, वही चिन्ता यहाँ धृतराष्ट्रको भी व्याकुल किये हुए है कि कहीं पाण्डव बलवान् न हो जायँ और उनकी जीत होकर कहीं उसका साम्राज्य छिन्न-भिन्न न हो जाय। इसीका विचार करके धृतराष्ट्रने पाण्डवोंको युद्धसे पराङ्मुख करनेके लिये संजयको भेजा था। संजयका पाण्डवोंको उपदेश महाभारतके ''संजय-यान'' नामक पर्वमें है। इससे सिद्ध होता है कि साम्राज्यवादी अपने साम्राज्यकी सुरक्षाके लिये धर्मका भी आसरा लेते हैं।

संजययान-पर्वका आशय

धृतराष्ट्रने सुना कि पाण्डव युद्धके इच्छुक हैं; अतः पाण्डवोंको युद्धसे निवृत्त करनेके लिये धृतराष्ट्रने संजयको पाण्डवोंके पास भेजा और धर्मराज आदिको संजयने धर्मका उपदेश करके उनको युद्धसे पराङ्मुख करनेका यत्न किया। संजयके उपदेशका सारांश निम्नाङ्कित है (म० भा० उद्योगपर्व अ० २० से ३२)—

'हे पाण्डवो ! धृतराष्ट्र सर्वदा तुम्हारा हित ही करता है। पर तुम उसके साथ युद्ध करनेके इच्छुक हो, क्या यह योग्य है ? तुम्हारे-जैसे सात्त्विक और धार्मिक पुरुषोंके लिये युद्ध करना योग्य नहीं। युद्ध करना तो कसाइयोंका कार्य है। तुम अपने भाइयोंका विनाश करनेके लिये तैयार हो, यह तुम्हारे योग्य नहीं है। यह युद्ध किसलिये करते हो ? ऐहिक, क्षणभंगुर, दुःखदायी संसारके भोग भोगनेके लिये यह युद्ध करके अपने भाइयोंको मारनेकी इच्छा करते हो ? आजतक तुम धर्मके पालनमें तत्पर रहे और वही तुम आज अपने भाइयोंका और गुरुजनोंका वध करनेके लिये तैयार हो ? इन क्षणभंगुर भोगोंके लिये यह युद्ध तुम-जैसे सात्त्विक लोग कर रहे हैं, इससे अधिक आश्चर्य और क्या हो सकता है ? अपने भाइयोंके रक्तसे सने हुए भोग ही तुम भोगोगे, उस समय क्या तुम्हें सुख होगा ? अपने भाइयोंका वध करके तुम क्या चिरञ्जीव होकर शाश्वत रह सकोगे ? तुम युद्धके रूपमें कसाइयोंका कार्य करके नरकका साधन कर रहे हो। क्या यह तुम्हारे-जैसे धार्मिकोंको शोभा देता है ? मनुष्य भिक्षा माँगकर भी निर्वाह कर सकता है, और धर्माचरण करके आध्यात्मिक दृष्टिसे उन्नत हो सकता है। अशाश्वत, मायामोहमय असार संसारके इन क्षणभंगुर भोगोंमें फँसकर तुम इस भयानक क्रूर संहारकारक युद्धको करनेके लिये तैयार हो रहे हो। तुम्हारे लिये अच्छा यह है कि तुम इस क्रूर युद्धसे शीघ्र ही हट जाओ। इस युद्धके करनेसे तुम्हारी इस लोकमें निन्दा होगी और तुम्हारी पारलौकिक उन्नतिमें बाधा पहुँचेगी। इसलिये तुम इस क्रूर युद्ध-कर्मसे शीघ्र हट जाओ। इसमें तुम्हारा आध्यात्मिक लाभ है।'

राजा धृतराष्ट्रकी आज्ञासे संजयने पाण्डवोंको जो युद्धके मार्गसे निवृत्त होनेका उपदेश दिया था, वह महाभारतमें १३ अध्यायोंमें है। उसका सारांश ऊपर दिया गया है। 'संसार क्षणभंगुर और दुःखमय है, इसके भोग भी क्षणभंगुर हैं। इसलिये इन अशाश्वत सुखके लिये कोई यत्न न करे। युद्धका त्याग करके भिक्षा माँगकर रहना पड़े तो उसे स्वीकार कर ले; परंतु संहार-कारक युद्धसे यदि राज्य भी प्राप्त हो सकता हो, तो वह युद्ध न करे।' इस तरहका उपदेश धृतराष्ट्र दिलवा रहा है। धृतराष्ट्रकी प्रेरणासे संजयने यह उपदेश पाण्डवोंको दिया था।

इससे यह बात देखने योग्य है कि धृतराष्ट्र यह उपदेश करनेके समय भी पाण्डवोंको उनका राज्य वापस करनेकी बात नहीं कहता; अपितु संसार क्षणभंगुर है, भोग अशाश्वत हैं आदि उपदेश वह पाण्डवोंको दिलवा रहा है। तात्पर्य यह कि 'तुम्हारा जो राज्य मैंने अपने अधिकारमें लिया है, वह मेरे अधिकारमें ही रहे; तुम जो अपना राज्य मुझसे वापस लेना चाहते हो, उस प्रयत्नसे तुम दूर रहो।' साम्राज्यवादी ऐसे ही विचार करते हैं।

साम्राज्यवादी धृतराष्ट्र ही हुआ करते हैं। वे स्वराज्य प्राप्त करनेवालोंको उपदेश करते हैं कि विश्व क्षणभंगुर है, दुःखदायी है, जैसे कि मानो साम्राज्यवादियोंके लिये यह संसार दुःखदायी और क्षणभंगुर न हो। पाण्डवोंका राज्य कपटसे छीननेके समय यह क्षणभंगुर नहीं था। पर जब पाण्डव अपने राज्यकी पुनः प्राप्तिका प्रयत्न करने लगे, उस समय वह क्षणभंगुर हो गया। कैसा साम्राज्यवादियोंका विचार है !

'धर्मक्षेत्र कुरुक्षेत्रमें युद्धकी इच्छासे इकट्ठे हुए मेरे पुत्रों और पाण्डुके पुत्रोंने क्या किया ?' यह प्रश्न धृतराष्ट्र कर रहा है। इस प्रश्नके पूछनेमें उसका अभिप्राय था कि इस धर्मक्षेत्रके नामसे प्रभावित होकर पाण्डव कहीं युद्धसे विमुख तो नहीं हो गये। इस समय भी धृतराष्ट्र यही चाहता है कि धर्मक्षेत्रका परिणाम पाण्डवोंपर पड़े और वे युद्धसे निवृत्त हो जायँ और मेरे पास आया हुआ राज्य मेरे पास ही रहे, मेरा साम्राज्य टिका रहे और पाण्डवोंको उनका राज्य न मिले। यह धृतराष्ट्रका अभिप्राय था।

धृतराष्ट्रकी यह चिन्ता एक सम्राट्की चिन्ता है, एक साम्राज्यवादी चिन्ता है।

अर्जुनपर परिणाम

संजयद्वारा दिये गये उपदेशोंका परिणाम अर्जुनपर युद्धके समय पड़ा। युद्धक्षेत्रमें युद्धके लिये प्रस्तुत अपने ही बन्धु-बान्धवोंको देखकर वह कहता है कि 'इन आत्मजनोंको युद्धके लिये उपस्थित देखकर मेरे अङ्ग शिथिल हुए जा रहे हैं, मुख सूख रहा है। शरीर काँप रहा है, गाण्डीव मेरे हाथसे छूटा जा रहा है और मैं यहाँ खड़ा होनेमें भी समर्थ नहीं हूँ; अतः हे कृष्ण ! मैं युद्धमें विजय नहीं चाहता, मुझे राज्य और सुख प्राप्त करनेकी भी अभिलाषा नहीं है। राज्यभोग और जीवनसे हमारा क्या होगा ?' (गीता १। २८—३०, ३२)

संजयद्वारा दिये गये उपदेशोंका यह दुष्परिणाम अर्जुनपर पड़ा। उन्हीं उपदेशोंके संस्कारोंसे प्रेरित होकर अर्जुन यह कह कर कि 'मैं तीनों लोकोंके राज्यके लिये भी स्वजनोंको मारना नहीं चाहता, फिर इस छोटी-सी पृथ्वीके लिये क्या

मारूँ । अतः मुझ निःशस्त्रको शस्त्र हाथमें लेकर यदि कौरव मार डालें तो उत्तम होगा' युद्धसे पराङ्मुख होना चाहता है। और अन्तमें 'न योत्स्ये'—'युद्ध नहीं करूँगा' यह कहकर बिल्कुल निष्क्रिय हो जाता है। इस प्रकार संजयके उपदेशोंका पूरा प्रभाव अर्जुनपर पड़ा।

कई विद्वानोंके मतमें गीता केवल निवृत्तिमार्ग या संन्यासमार्गका ही उपदेश करती है। पर यहाँ संन्यास और निवृत्तिमार्गपर अग्रसर होता हुआ अर्जुन गीताको सुनकर पुनः प्रवृत्तिमार्गपर चल पड़ता है और श्रीकृष्णके हाथोंमें अपनेको समर्पित कर देता है और अन्तमें उसके मुँहसे एक ही वाक्य निकलता है कि 'करिष्ये वचनं तव'—'मैं तुम्हारे कथनानुसार चलूँगा…'। वही अर्जुन जो पहले निराश होकर युद्ध छोड़कर निवृत्ति-मार्गपर जा रहा था, वही गीताके कारण पुनः उत्साह-युक्त होकर युद्धमें प्रवृत्त हो जाता है। फिर गीताको निवृत्ति-मार्गका प्रतिपादक शास्त्र बतानेके लिये अवकाश कहाँ !

इससे यह भी स्पष्ट होता है कि गीता राज्य-शासनकी विधि बताती है तथा राज्यका शासन उत्तम-से-उत्तम रीतिसे किस तरह किया जा सकता है, इसका भी उपदेश गीतामें है। गीताका यह श्लोक भी हमारे विचारोंका समर्थन करता है—

राजविद्या राजगुह्यं पवित्रमिदमुत्तमम् ।
प्रत्यक्षावगमं धर्म्यं सुसुखं कर्तुमव्ययम् ॥
(९ । २)

१–राजविद्या–यह गीता राजविद्याका ग्रन्थ है। Science of Administration–राज्य-शासन चलानेकी यह विद्या है।

२–राजगुह्यम्–राज्य-शासनमें जो गुप्त बातें होती हैं, Secrets of Administration—उनका वर्णन गीतामें है।

३–पवित्रम्–गीता राज्य-शासनमें पवित्रता लानेवाला शास्त्र है।

४–इदम् उत्तमम्–यह उत्तम राज्य-व्यवहार चलानेका शास्त्र है। इस गीताके अनुसार चलाया गया राज्य-शासन उत्तम-से-उत्तम होगा।

५–प्रत्यक्षावगमम्–इस शास्त्रके उपदेशोंका प्रत्यक्ष अनुभव-द्वारा हो सकता है।

६–धर्म्यम्–मानव-धर्मको सुरक्षित रखनेवाला यह गीतोक्त राज्य-शासन है।

७—कर्तुं सुसुखम्—यह गीतोक्त राज्यशासन चलानेमें सुगम है।

८—अव्ययम्–गीताकी पद्धतिसे राज्यशासन चलानेपर थोड़े-से व्ययमें ही उत्तम-से-उत्तम शासन चलाया जा सकता है।

इस प्रकार गीता 'राजविद्या और राजगुह्य' का शास्त्र है। कुछ विद्वान् इन दोनों शब्दोंका अर्थ 'विद्याओंका राजा' और 'गुह्योंका राजा' करते हैं; पर यह अर्थ गीताके आशयके अनुकूल नहीं है; क्योंकि गीताका प्रमुख ध्येय तो अर्जुनको राज्यशासनकी शिक्षा देना था।

श्रेष्ठ राजाओंके पास यह विद्या थी

गीतामें ही आया है कि यह राज्यशासनकी विद्या प्राचीन कालके राजाओंके पास थी। 'इस गीता-योगका उपदेश सर्व-प्रथम विवस्वान्‌को दिया गया था, विवस्वान्‌ने मनुको दिया, मनुने इक्ष्वाकुको दिया, पर बीचमें कालातिक्रमणके कारण यह नष्ट हो गया था; वही पुरातन योग मैंने तुमको आज दिया है।' यह श्रीकृष्णका कथन है।

इसमें कहा गया है कि 'इमं योगं राजर्षयो विदुः—'इस योग-को राजर्षि जानते थे। राजर्षिका अर्थ उत्तम शासन चलानेवाले राजागण हैं। यहाँ यह बात ध्यानमें रखने योग्य है—विवस्वान्, मनु, इक्ष्वाकु, श्रीकृष्ण, अर्जुन आदि जो इस योगके अधिकारी हैं, सब क्षत्रिय राजा हैं। अतः यदि गीता केवल संन्यास या निवृत्ति-मार्गका प्रतिपादक शास्त्र होता तो उस गीतायोगका क्षत्रिय राजाओंके पास रहनेका क्या प्रयोजन ? उस दशामें तो वह ब्राह्मणों और ऋषियोंके पास होना चाहिये था। पर वह योग ब्राह्मणोंके पास न होकर क्षत्रिय राजाओंके पास था, इससे ज्ञात होता है कि गीताका योग राज्य-शासनका योग है, संन्यास या निवृत्तियोग नहीं। और इसके अनुसार वे राजा अपना राज्यशासन चलाते थे। गीतामें 'योग' एक पारिभाषिक शब्द है, जिसका अर्थ 'ध्यान-धारणा' न होकर 'कर्ममें कुशलता' है। 'योगः कर्मसु कौशलम्' यह गीताका वचन कर्मकी कुशलताका प्रतिपादक है। राजाओंके पास राज्य-शासन-रूप कर्मकी कुशलता (योग) थी। यही योग जो, बीचमें नष्टप्राय हो गया था, महाभारत-युद्धके समय श्रीकृष्ण-द्वारा अर्जुनको दिया गया। इस प्रकार गीताको 'राज्यशासन' का ग्रन्थ कहा जा सकता है।

विश्वरूपकी उत्तम सेवा

राज्य करना प्रजाकी एक प्रकारसे सेवा है और जनता ही जनार्दन अथवा परमेश्वरकी मूर्ति है। 'विश्वरूप' परमेश्वर-का सत्य स्वरूप है। गीतामें परमेश्वरका वर्णन इस प्रकार है—

विश्वरूपः । अनन्तरूपः । गीता ११ । १६ ॥
विश्वमूर्तिः । ,, ११ । ४६ ॥
सर्वं । सर्वः असि । ,, ११ । ४० ॥

'यह ईश्वर विश्वरूप है, अनन्तरूप है; वह विश्वकी मूर्ति है, वही ईश्वर सब कुछ है।' अर्थात् ईश्वर विश्वरूप है। अतः विश्वकी सेवा परमेश्वरकी सेवा ही है। प्रत्येक मनुष्यका कर्त्तव्य है कि वह व्यक्ति तथा समाज दोनोंकी सेवा करे। व्यक्तिकी सेवा भी परमेश्वरकी सेवा है और समाजकी सेवा भी उसी विश्वरूप प्रभुकी सेवा है। अतः राज्यशासनद्वारा प्रजाकी सेवा परमेश्वरकी सेवा ही है। इस प्रकार गीताके अनुसार राज्यशासन विश्वरूप परमात्माकी सेवा करनेका एक उत्तम साधन है। अर्थात् राज्यशासन इसलिये करना चाहिये कि उससे प्रजाकी सेवाके रूपमें विश्वरूप प्रभुकी सेवा होती रहे, अत्याचार और अनाचारके लिये नहीं। उत्तम राज्यशासनका अर्थ है, ईश्वरकी उत्तम सेवा।

अनन्यभाव

परमेश्वर विश्वरूप है और विश्वमें राष्ट्र, राष्ट्रमें व्यक्ति उसका एक भाग है। इस प्रकार व्यक्ति उस विश्वरूपका एक अंश है। अतः मनुष्यको चाहिये कि वह स्वयंको राष्ट्र अथवा देश अथवा परमात्मासे पृथक् न समझते हुए उसकी सेवा करे। राजाको भी राज्यशासनकालमें इस बातको सदा ध्यानमें रखना चाहिये कि वह राष्ट्रसे भिन्न या पृथक् नहीं है, अपितु राष्ट्रके सुख-दुःख उसीके सुख-दुःख हैं। इस प्रकारका अनन्यभाव उस विश्वरूपकी सेवाके समय भी अपनाना चाहिये। तभी परमात्मा भी उसके सुख-दुःखका ध्यान करता है। 'अनन्य होकर जो मेरी—ईश्वरकी—उपासना करते हैं, उनका योग-क्षेम मैं चलाता हूँ' यह गीताका वचन इस ओर स्पष्ट संकेत कर रहा है कि अनन्यभावसे ही राष्ट्र या विश्वकी सेवा करनी चाहिये। यह अनन्यभावका सिद्धान्त गीतोक्त राज्यशासनकी एक प्रमुख विशेषता है।

योगके आश्रयसे कर्म

गीतामें स्थल-स्थलपर इस बातपर जोर दिया गया है कि मनुष्य-को योगमें स्थित होकर ही कार्य करने चाहिये। 'योगस्थः कुरु कर्माणि,' 'योगयुक्तः' आदि वचन इस बातके द्योतक हैं कि गीतामें योगका स्थान सर्वोच्च है। पर जैसे कि हमने पहले बताया है, गीतामें 'योग' एक पारिभाषिक शब्द है, जिसका अर्थ योगदर्शनाभिमत 'ध्यान-धारणादि' न होकर 'कर्ममें कुशलता' है। अतः जो कुछ कर्म कुशलतासे किया जाय वह योग है और जो करता है वह योगी है। अतः गीताके अनुसार उत्तम राज्य-शासन करता हुआ एक राजा भी एक उत्तम योगी है।

निष्काम कर्मका सिद्धान्त

गीताके अनुसार कुशलतासे किये जानेवाले कर्म दो प्रकारके हैं—(१) सकाम, (२) निष्काम, जिनको हम दूसरे शब्दोंमें 'कर्मफल-भोग' और 'कर्मफलत्याग' कह सकते हैं। इन दो प्रकारके कर्मोंके आधारपर राष्ट्रके सेवक-वर्गके भी दो भेद हो जाते हैं। एक प्रकारके सेवक कर्मफलकी इच्छा अथवा भोग करनेवाले हैं और दूसरे प्रकारके सेवक कर्मफलका त्याग करनेवाले हैं!

प्रथम वर्गके राष्ट्रके सेवक अपनी सेवाके बदलेमें राष्ट्रसे धन प्राप्तकर अपने कुटुम्बका भरण-पोषण करते हैं। पर दूसरे वर्गके सेवक राष्ट्रसे कुछ भी न लेकर केवलमात्र उसकी सेवा करते हैं।

इस प्रकार दूसरे वर्गके लोग जो कर्मफलका त्याग करते हैं, राष्ट्रके स्वयंसेवक हैं, उनकी योग्यता विशेष होती है। वे राष्ट्रसे अपनी सेवाओंके बदलेमें वेतन आदि कुछ नहीं लेते, यह सत्य है; पर उनका योगक्षेम (जीविका) राज्यशासनद्वारा स्वयं चलाया जाता है। उन्हें धनकी स्पृहा नहीं होती; राजा स्वयं ही उनकी आवश्यकताओंकी पूर्ति कर देता है, पर वे राजासे कुछ नहीं माँगते। इस विषयमें गीताका कथन है—

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम् ॥
(गीता ९ । २२)

'अर्थात् जो अनन्यभावसे मुझ विश्वरूपकी सेवा करते हैं, उनका योगक्षेम (राजाके रूपमें) मैं ही चलाता हूँ।'

१—अनन्याः—राष्ट्रसे अपनेको पृथक् न समझनेवाले।

२—नित्याभियुक्ताः—सदा राष्ट्रकी सेवामें तत्पर रहनेवाले लोगोंका।

३—योगक्षेमं वहामि—योगक्षेम राज्य चलाता।

'कर्मफलत्यागी, अथवा अवैतनिक स्वयंसेवकोंकी राष्ट्रमें इस प्रकारकी स्थिति है । इस कर्मफल-त्यागके भी अनेक प्रकार हैं—

१—**कर्मफलं त्यक्त्वा** (गीता ५ । १२)—कर्मके फलका त्याग करना ।

२—**मदर्पणं कुरु** (९ । २७)—कर्मका फल विश्वरूपको अर्पण करना ।

३—**कर्मफलम् अनाश्रिताः** (६ । ७)—कर्मफलका आश्रय न लेना ।

४—**कर्मणां न्यासः** (१८ । २)—कर्मफलोंका न्यास करना ।

५—**कर्माणि संन्यस्य** (३ । ३०)—कर्म-फलका संन्यास रखना ।

६—**संगवर्जितः** (११ । ५५)—कर्मफलसे अपना संग न करना ।

ये प्रकार कर्मफल-त्यागके हैं । राज्यशासनकी दृष्टिसे इन्हें इस प्रकार समझा जा सकता है—

१—कर्मफलत्याग—कर्मके फल वेतनको स्वीकार ही न करना । उसका उपयोग राज्यशासन जैसा चाहे वैसा करे ।

२—कर्मफलदान (अर्पण)—कर्मफल वेतनको लेकर फिर उसे राष्ट्रके कार्योंमें खर्च कर देना ।

३—कर्मफलका अनाश्रय—कर्मफल वेतनका स्वयं उपभोग न करना ।

४—कर्मफलन्यास—अपने कर्मके फल वेतनको दानके ध्येयसे बैंकमें धरोहरके रूपमें रखना । न्यास—धरोहर, Deposit.

५—कर्मफल-संन्यास—अपने कर्मफल वेतनको बैंकमें सामूहिक रूपसे रखना । संन्यास—Collective deposit.

६—कर्मफल-संगवर्जन—वेतनके साथ स्पृहा या मोह न रखना । शासकमण्डल उसका जैसा चाहे वैसा उपभोग करे ।

ऐसे 'कर्मफल-त्याग' के अनेक प्रकार गीतामें वर्णित हैं । कई विद्वान् सब शब्दोंका एक ही अर्थ समझते हैं; पर यह असंगत है, वस्तुतः वे व्यवहारके भेद हैं और राज्य-शासन-व्यवस्थामें उनका पृथक्-पृथक् महत्त्व है । इन शब्दोंके व्यावहारिक अर्थोंको ध्यानमें न रखकर सबका एक ही अर्थ समझनेसे, गीता जिस प्रकारके उत्तम राज्यशासनको बताती है, वह विद्वानोंकी आँखोंसे ओझल हो गया है । लोग ऐसा समझते हैं कि हर प्रकारके कर्म ईश्वरके अर्पण कर देने चाहिये; पर यह उनकी भूल है । गीतामें कुछ पारिभाषिक शब्द निश्चित किये हुए हैं, अतः उनके अर्थ उसी परिभाषाके अनुसार समझने चाहिये । उदाहरणार्थ—

१—ईश्वर—विश्वरूपी प्रभु, राष्ट्ररूपी प्रभु ।

२—ईश्वरको समर्पण—विश्व अथवा राष्ट्रको अर्पण अर्थात् विश्वमें, राष्ट्रमें अथवा अपने प्रान्त या ग्राममें रहनेवाले लोगोंको उस कर्मसे कुछ लाभ मिलता है वा नहीं—यह देखना चाहिये ।

केवल मेरे कर्म ईश्वरको अर्पित हैं, यह समझना ही पर्याप्त नहीं है; अपितु मेरे उन कर्मोंसे जनताको कुछ लाभ पहुँचा या नहीं, यह विचारना चाहिये । अपने कर्मोंसे जनताकी सेवा अवश्य होनी चाहिये ।

इस प्रकार 'कर्मफल-त्याग' एक व्यवहारकी पद्धति है, जिससे राष्ट्रके स्वयंसेवक किस प्रकार अपने उत्तम कर्मोंसे राष्ट्रकी सेवा कर सकते हैं—यह ज्ञात हो सकता है ।

निष्काम कर्मका आध्यात्मिक रूप

अपने शरीरके अंदर होनेवाले व्यवहारको, 'आध्यात्मिक व्यवहार' कहा जाता है । यह शरीर राष्ट्र है, उसका अध्यक्ष आत्मा है, इन्द्रियाँ और प्राण इस राष्ट्रके सेवक हैं, इन सेवकोंमें वर्ग-भेद है ।

इस शरीरमें नाक, कान, आँख, जीभ और त्वचा—ये पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ और वाक्, हाथ, पैर तथा दो गुप्तेन्द्रियाँ—ये पाँच कर्मेन्द्रियाँ हैं । ये सब कर्मफल-भोगी वा सकाम कर्म करनेवाली हैं । आँखें सुन्दर रूप देखना चाहती हैं, कान सुन्दर शब्द सुनना चाहते हैं, जीभ सुन्दर स्वाद चाहती है—इस प्रकार सब इन्द्रियाँ अपनी सेवाओंका बदला चाहती हैं, दूसरे शब्दोंमें ये सब वेतनभोगी सेवक हैं ।

पर इसी शरीरमें स्थित ११ प्राण भी हैं, जो अपना कार्य निरन्तर बिना विश्राम लिये करते रहते हैं—शरीररूपी राष्ट्रकी सुस्थितिके लिये अनन्यभावसे सदा प्रयत्नशील रहते हैं; पर वे अपनी सेवाओंके बदलेमें कुछ नहीं चाहते, अर्थात् निष्कामभावसे इस शरीरकी सेवा करते हैं । ये राष्ट्रके अवैतनिक स्वयंसेवक हैं, इनके कार्यपर ही शरीर-राष्ट्रकी स्वस्थता अवलम्बित है । इसी प्रकार बुद्धि, चित्त, अहंकार और मन भी सकाम कर्मवाले न होकर अपने कर्मफलका समर्पण करनेवाले हैं ।

इस प्रकारका राज्यशासन गीतामें है और स्थल-स्थलपर गीतामें राज्यशासन या राजनीतिके संदेश हमें प्राप्त होते हैं । अतः गीताको केवल संन्यास या निवृत्ति-मार्गका प्रतिपादक शास्त्र मानना स्वयं गीताके आशयके प्रतिकूल है ।

पागलकी झोली

[बिल्ववृक्षकी छायामें]

(लेखक—महात्मा श्रीश्रीसीतारामदास ॐकारनाथजी महाराज)

पागल राम-राम जपते हुए बिल्ववृक्षकी प्रदक्षिणा कर रहे हैं । ऐसे समयमें हरिदास आकर प्रणाम करके बैठ गये । पागल 'राम-राम सीताराम' कहकर बिल्ववृक्षको प्रणाम करते हैं । हाथसे ताली देकर राम-राम कहकर नाचने लगते हैं ।

हरिदास—अरे पागल बाबा ! बिल्ववृक्षसे इतना प्रेम क्यों है ?

पागल—राम-राम सीताराम ! जय राम सीताराम ।

बिल्ववृक्षो महेशानि भगवान् शङ्करः स्वयम् ।
बिल्ववृक्षतले स्थित्वा यदि प्राणांस्त्यजेत् सुधीः ॥
तत्क्षणान्मोक्षमाप्नोति किं तस्य तीर्थकोटिभिः ।
यत्र ब्रह्मादयो देवास्तिष्ठन्ति शान्तिहेतवे ॥

—पुरश्चरणोल्लास, १० म पटल ।

बिल्ववृक्ष स्वयं शिव है । यदि कोई बिल्ववृक्षके नीचे रहकर प्राण-त्याग करता है, 'राम-राम सीताराम', तो वह तत्काल मोक्ष प्राप्त करता है । उसे कोटितीर्थोंमें जानेसे क्या मतलब । शान्ति प्राप्त करनेके लिये ब्रह्मादि देवगण जहाँ निवास करते हैं, उस बिल्ववृक्षकी—'राम-राम सीताराम' महिमा मैं क्या कहूँ ! 'राम-राम सीताराम' ।

हरिदास—बिल्ववृक्षके नीचे रहनेपर शान्ति प्राप्त होती है ?

पागल—'राम-राम सीताराम, जय जय राम सीताराम—' निश्चय ही । साक्षात् शिव कहते हैं कि बिल्ववृक्षके नीचे जो रहेगा, उसे शान्ति प्राप्त होगी ।

समीपे स च चार्वङ्गि बिल्ववृक्षो यदि प्रिये ।
काशीपुरसमस्तत्तु तत्र प्राणांस्त्यजेद् यदि ॥
किं तस्य कोटितीर्थेन काशीवासेन किं प्रिये ।

'राम-राम सीताराम' हे रमणीये ! प्रिये ! यदि कोई बिल्ववृक्ष समीप हो तो वह स्थान काशीधामके तुल्य है । वहाँ यदि कोई प्राण-त्याग करता है तो उसे कोटितीर्थ या काशीवाससे क्या प्रयोजन है । राम-राम सीताराम ।

हरिदास—तब तो बिल्ववृक्षकी बड़ी महिमा है । कुछ और कहिये ।

पागल—राम-राम सीताराम । जय जय राम सीताराम ।

बिल्ववृक्षो महेशानि समन्तात् षोडशकरम् ।
मम जटास्वरूपं हि पर्णं जानीहि सुन्दरि ॥
ऋग्यजुस्सामसदृशं दलत्रयं वरानने ।
शाखाश्च सर्वशास्त्राणि जानीहि मीनलोचने ॥
कल्पवृक्षसमो वृक्षो ब्रह्मविष्णुशिवात्मकः ।
महालक्ष्मीर्बिल्ववृक्षो जातः श्रीशैलपर्वते ॥

—योगिनीतन्त्र ५ म पटल ।

राम-राम सीताराम, जय जय राम सीताराम ! हे सुन्दरि ! महेशानि! बिल्ववृक्षके चारों ओर सोलह हाथतककी भूमि मेरी जटाके समान है । राम-राम सीताराम, जय जय राम सीताराम । पत्रके तीन दल ऋग्, यजु और सामवेदके समान हैं । सारे शास्त्र शाखाएँ हैं । ब्रह्म-विष्णु-शिवात्मक यह बिल्ववृक्ष कल्पवृक्षके समान है । 'राम-राम सीताराम, जय जय राम सीताराम ।' श्रीशैल पर्वतपर महालक्ष्मी बिल्ववृक्षके रूपमें उत्पन्न हुई थीं । राम-राम सीताराम, जय जय राम सीताराम ।

हरिदास—पहले कहा गया है, बिल्ववृक्ष स्वयं शिव है । अब कहते हैं—लक्ष्मी बिल्ववृक्षके रूपमें उत्पन्न हुई थी । ये दो तरहकी बातें क्यों ?

पागल—राम-राम सीताराम, जय जय राम सीताराम । सृष्टि तो एक बार नहीं होती । कल्प-कल्पमें, मन्वन्तर-मन्वन्तरमें बारंबार सृष्टि होती है । कल्पभेदसे लीला-भेद होता है । किसी कल्पमें शिव बिल्ववृक्ष हुए तो किसी कल्पमें महालक्ष्मी बिल्ववृक्ष हुई । राम राम सीताराम, जय जय राम सीताराम । किसी कल्पमें महालक्ष्मीके दाहिने हाथसे बिल्ववृक्ष उत्पन्न हुआ था । राम राम सीताराम, जय जय राम सीताराम । किसी कल्पमें लक्ष्मीके वाम स्तनसे बिल्ववृक्ष हुआ था । राम राम सीताराम ।

हरिदास—अच्छा, कल्पसे क्या मतलब है—यह पीछे सुनूँगा । अभी बतलाइये कि महालक्ष्मी बेलवृक्ष क्यों हुई थीं ?

पागल—'राम राम सीताराम, जय जय राम सीताराम' । शिवजीने कहा है कि ज्योतिरूप मेरे अंश ब्रह्मादि देवगणके द्वारा कथित वाणी मेरे अनुग्रहसे सबकी प्रिय हो गयी । वही सरस्वती विष्णुकी प्रियतमा थीं । राम राम सीताराम, जय-जय राम सीताराम । उनकी-जैसी प्रीति लक्ष्मीके प्रति भी नहीं थी । लक्ष्मी पतिके अनादरसे दुःखित होकर श्रीशैलपर्वतपर गयीं ।

वहाँ मेरा एक शिवलिङ्ग प्राप्त करके दुष्कर तप करने लगीं। तथापि मेरी कृपा न होनेके कारण——राम राम सीताराम, जय जय राम सीताराम——लक्ष्मी देवीने वृक्षरूप धारण किया। कोटि वर्षतक मेरी पूजा करनेसे मेरा अनुग्रह प्राप्त हुआ। राम राम सीताराम। इसी कारण वह सर्वदा विष्णुके वक्षःस्थल-पर विराजित रहती हैं। राम राम सीताराम। हरिप्रिय लक्ष्मी मेरी परम भक्ता हैं, निरन्तर मेरी पूजामें लगी रहती हैं। इसी कारण वे दिन-रात बिल्ववृक्षका आश्रय किये रहती हैं। राम राम सीताराम, जय जय राम सीताराम।

सर्वतीर्थमयो देवि सर्वदेवमयः सदा।
श्रीवृक्षः परमेशानि अत एव न संशयः॥

हे देवि! हे परमेशानि! इसी कारण श्रीवृक्ष सतत सर्व-तीर्थमय और सर्वदेवमय है, इसमें संशय नहीं। राम-राम सीताराम, जय जय राम सीताराम।

हरिदास—बिल्ववृक्षमें तो सब देवता हैं—ब्रह्मा, विष्णु, महेश्वर तथा स्वयं लक्ष्मीजी! उसके चारों ओर सोलह हाथकी दूरीतक शिवकी जटा है——ऐसी बात तो मैंने कभी सुनी नहीं। बिल्ववृक्षकी इतनी महिमा है? कहिये, कहिये, कुछ और कहिये।

पागल बाबा—राम राम सीताराम सीताराम।

शिवलिङ्गार्चनाद् योगी जगद्रक्षणदीक्षितः।
महाविष्णुस्तपश्चक्रे तस्यैव सहचारिणा॥
महालक्ष्मीस्तपस्तेपे भर्तृसेवापरायणा।
तदा बिल्वतरुर्जातो लक्ष्मीदक्षिणहस्ततः॥
तत्पत्रैरर्चयामास महाविष्णुश्च शङ्करम्।
बिल्वपत्रार्पितस्तुष्टो महादेवो दयानिधिः॥
सर्वदेवोत्तमत्वं च सर्वस्वातन्त्र्यमेव च।
प्रददौ सर्वपूज्यत्वं सर्वसिद्धिं च विष्णवे॥
श्रीवृक्ष इति विख्यातो बिल्वद्रुर्देवपूजितः।
त्रिगुणैस्त्रिदलैः पत्रैस्त्रिमूर्त्तिप्रीतिदायकः॥
त्रयीमयोऽयं विख्यातो नीतो देवैश्च नन्दनम्।
कैलासेऽपि च वैकुण्ठे श्वेतद्वीपे सुरालये।
मन्दारादिषु पुण्येषु क्षेत्रेषु सकलेष्वपि।
पूज्यन्ते बिल्वतरवः श्रीवृक्षा इति नारद॥
फलानि श्रीतपोयोगाद् यस्यालक्ष्मीनिरासने।
लक्ष्मीप्राप्तौ पटीयांसि सेव्यन्ते पुण्यशालिभिः॥
ज्ञानप्रदमिमं वृक्षं दारिद्र्यपरिहारकम्।
श्रीप्रियं योऽर्चयेद् बिल्वं स नरो भाग्यवान् भवेत्॥
श्रीयन्त्रे बिल्वपत्रेषु शिवलिङ्गमथापि वा।
योऽर्चयेदन्वहं भक्त्या पुरुषार्थान् समश्नुते॥
(स्कान्दे सनत्कुमारसंहितायां बिल्वमाहात्म्यम्)

'राम राम सीताराम!' जगत्के पालनकर्त्ता भगवान् महा-विष्णुने शिवलिङ्गकी अर्चना करते हुए शिवजीकी प्रीतिके लिये तपस्या की थी। स्वामीकी सेवामें रत उनकी सहचारिणी महालक्ष्मीने भी तपस्या की। राम राम सीताराम। उस समय महालक्ष्मीके दक्षिण हाथसे बिल्ववृक्ष उत्पन्न हुआ। महाविष्णुने बिल्वपत्रके द्वारा शङ्करजीकी अर्चना की। बिल्वपत्रके द्वारा पूजा करनेसे प्रसन्न होकर दयासागर श्रीमहादेवजीने विष्णु-भगवान्को सर्वश्रेष्ठत्व, सर्वस्वातन्त्र्य, सर्वपूज्यत्वादि सारी सिद्धियाँ प्रदान कीं। राम राम सीताराम, जय जय राम सीता-राम। देव-पूजित बिल्ववृक्षकी 'श्रीवृक्ष'के नामसे प्रसिद्धि हुई। त्रिगुण-सम्पन्न त्रिपत्र ब्रह्मा-विष्णु महेश्वरकी प्रीति प्रदान करने-वाला त्रयीमय होनेके कारण इस प्रसिद्ध वृक्षको देवगण नन्दन-काननमें ले आये। राम राम सीताराम, जय जय राम सीताराम। हे नारद! कैलासमें, वैकुण्ठमें, श्वेतद्वीपमें, सुरलोकमें, मन्दा-रादि समस्त पुण्यक्षेत्रोंमें श्रीवृक्ष बिल्वतरुकी सब पूजा करते हैं। राम राम सीताराम, जय जय राम सीताराम। 'श्री' के तपके योगसे उनके फल अलक्ष्मी (दारिद्र्य) को दूर करने और लक्ष्मी प्रदान करनेमें परम दक्ष होते हैं। अतएव पुण्य-शाली लोग सतत श्रीवृक्षकी सेवा किया करते हैं। राम राम सीताराम, जय जय राम सीताराम। यह वृक्ष ज्ञानप्रद, दारिद्र्य-नाशक, श्रीप्रिय है। जो इसकी अर्चना करते हैं, वे भाग्यवान् होते हैं। जय जय राम सीताराम। श्रीयन्त्रमें या शिव-लिङ्गमें जो प्रतिदिन भक्तिपूर्वक शिव-पूजा करते हैं, वे धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष चतुर्वर्गकी प्राप्तिमें समर्थ होते हैं। राम राम सीताराम, जय जय राम सीताराम।

हरिदास—स्वयं शिव बिल्ववृक्ष हैं, लक्ष्मी बिल्ववृक्ष हैं और मा लक्ष्मीके दाहिने हाथसे बिल्ववृक्षकी उत्पत्ति है—ये तीन प्रकारकी बातें तो सुनीं। अब यह बतलाइये कि मा लक्ष्मी-के स्तनसे कैसे बिल्ववृक्षकी उत्पत्ति हुई?

पागल—राम राम सीताराम, जय जय राम सीताराम। एक दिन लक्ष्मीदेवीने श्रीभगवान्से पूछा—'आपका सबसे बढ़कर प्रिय कौन है? राम राम सीताराम, जय जय राम सीताराम। मैं तो समझती थी कि मैं ही आपकी सर्वापेक्षा प्रिया हूँ। परंतु उस दिन मैंने देखा कि मेरी अपेक्षा नीलकण्ठ आपके अधिक प्रिय हैं। राम राम सीताराम। क्या उनसे भी बढ़कर कोई

और आपका प्रिय है ? राम राम सीताराम । श्रीभगवान्ने कहा—'मेरे बहुत प्रियतम नहीं हैं । देहीके देहके समान शिव ही एकमात्र मेरे अहैतुक प्रिय हैं । राम राम सीताराम । मनुष्यको पुत्रके लिये, यौवनके लिये, गृहके लिये स्त्री प्रिय होती है । पिण्ड और कीर्तिके लिये पुत्र प्रिय होता है । विपत्तिसे रक्षा और सुखके लिये धन प्रिय होता है । राम राम सीताराम, जय जय राम सीताराम । धर्मात्माओंको धर्मके लिये शरीर प्रिय होता है । सभी प्रयोजनवश प्रिय होते हैं । केवल प्रीतिके लिये प्रिय कोई नहीं दीखता । पुरुषका पुरुषके साथ ही अकृत्रिम प्रणय होता है, क्योंकि मित्रता समताकी अपेक्षा करती है । राम राम सीताराम । अतः भिन्न भावके कारण पुरुषका नारीके साथ प्रायः वैसा सद्भाव नहीं होता । पहले मैं एक दिन प्रिय-प्राप्तिकी कामनासे—राम राम सीताराम—पृथिवीपर जाकर दशों दिशाओंमें भ्रमण कर रहा था । भ्रमण करते-करते मनमें निश्चय किया कि अब जो दिखलायी देगा, वही मेरा अकृत्रिम मित्र होगा । राम राम सीताराम । इसी समय शङ्करजीके साथ मेरा साक्षात्कार हो गया । वे भी मेरी ही तरह प्रिय-प्राप्तिकी कामनासे भ्रमण कर रहे थे । परस्पर साक्षात् होते ही दोनोंके मनमें पूर्वजन्मार्जित विद्याके समान महान् प्रीति उत्पन्न हुई । राम राम सीताराम, जय जय राम सीताराम । वस्तुतः दो घड़ोंमें स्थित जलके समान मुझमें और शङ्करमें कोई भी भेद नहीं है । जो व्यक्ति भक्तिपूर्वक शङ्करकी पूजा करता है, वह मेरा प्रिय होता है । जो शिव-पूजा-विमुख हैं, वे कभी मुझे प्रिय नहीं हो सकते । राम राम सीताराम, जय जय राम सीताराम ।

हरिदास—उसके बाद, उसके बाद ?

पागल—'राम राम सीताराम' । श्रीलक्ष्मीदेवी श्रीभगवान्के मुखसे यह बात सुनकर यह समझ गयीं कि शिव-पूजा-विमुख होनेके कारण ही मैं अपने स्वामीको प्रिय नहीं हूँ । 'राम राम सीताराम'—वह अपनेको धिक्कारने लगीं । श्रीभगवान्ने कहा—'देवि ! दुखी मत हो । तुमको शिवपूजामें लगानेके लिये ही मैंने यह कहा है । तुम आजसे शिव-पूजा करके शिवके समान ही मेरी प्रेमपात्री बनो । राम राम सीताराम ।'

हरिदास—फिर क्या हुआ ? क्या लक्ष्मीजीने शिव-पूजा की ?

पागल—'राम राम सीताराम' । हाँ, इसके आगे सुनो । कमला लक्ष्मीजी बोलीं—'आपके नीलकण्ठ किस पुष्पसे विशेष प्रसन्न होते हैं ? राम राम सीताराम, जय जय राम सीताराम' । श्रीभगवान्ने कहा—'ब्राह्मणको एक सौ आठ दूधवाली गाय दान करनेका फल करवीर पुष्पके द्वारा शिव-पूजा करनेसे होता है । रक्त करवीर (लाल कनैल) चढ़ानेसे दूना फल होता है । 'राम राम सीताराम' । शेफालिका पुष्प चढ़ानेसे कोटि रौप्यमय पुष्प दान करनेका फल होता है । कुन्द पुष्प चढ़ानेसे उससे भी सौगुना अधिक फल होता है । मुक्ताके द्वारा मुक्ता-लिङ्ग पूजनेसे जो फल होता है, वही फल द्रोण-पुष्प चढ़ानेसे होता है । राम-राम सीताराम, जय जय राम सीताराम । स्वर्णपुष्पके द्वारा स्वर्णलिङ्ग पूजनेका फल चम्पक पुष्प चढ़ानेसे होता है । वैशाख मासके शुक्लपक्षमें चँवर डुलानेका फल शिरीष पुष्पके चढ़ानेसे होता है । राम राम सीताराम । नागकेशर-पुष्प चढ़ानेसे अश्वमेध यज्ञ और मुचुकुन्द-पुष्प चढ़ानेसे गया-श्राद्धका फल होता है । तुलसीदल चढ़ानेसे उसकी भी अपेक्षा सौगुना अधिक फल होता है । राम राम सीताराम, जय जय राम सीताराम ।

हरिदास—तुलसीपत्रके द्वारा शिवपूजा होती है ?

पागल—राम राम सीताराम, जय जय राम सीताराम । तुलसीपत्र चढ़ानेसे अश्वमेध यज्ञ और गयाश्राद्धका सौगुना फल होता है । तगर-पुष्प चढ़ानेसे चान्द्रायण व्रतका फल मिलता है । वज्र-पुष्पसे काशीक्षेत्रमें उपवासका फल होता है । धतूरेका पुष्प चढ़ानेसे सैकड़ों एकादशी व्रतका फल प्राप्त होता है । राम राम सीताराम, जय जय राम सीताराम । केतकीको छोड़कर शिवको संतुष्ट करनेवाले अनेक पुष्प हैं । राम राम सीताराम ।

हरिदास—क्या केतकी-पुष्पसे शिवपूजा नहीं होती ?

पागल—राम राम सीताराम । नहीं, सीताराम । सीताजीने केतकीको शाप दिया था कि—'तेरे द्वारा शिवकी पूजा नहीं होगी' । राम राम सीताराम ।

हरिदास—उन्होंने क्यों शाप दिया था ?

पागल—राम राम सीताराम । वनवासके समय एक दिन पितरोंका श्राद्ध करनेके लिये श्रीरामचन्द्रजी सामग्री इकट्ठी करने गये । श्राद्धका समय बीतते देखकर सीताजीने गृह-स्थित फलोंके द्वारा श्राद्ध किया । राम राम सीताराम । दशरथजी आदिने हाथ बढ़ाकर श्राद्ध ग्रहण किया । सीता देवीने फल्गु, अग्नि, गाय और केतकीको श्राद्धका साक्षी बनाया । उन्होंने श्रीरामचन्द्रजीको सच्चा संदेश नहीं दिया, इससे सीताजीने उनको शाप दे दिया । सीताजीके शापसे फल्गु अन्तःसलिला हो गयी, अग्नि सर्वभोक्ता बन गयी, गायका मुख अशुद्ध हो गया और केतकी शिवके लिये अग्राह्य हो गयी । राम राम सीताराम, जय जय राम सीताराम । इसके बाद सुनो, भगवान्ने

कहा है कि एकमात्र पद्मपुष्प चढ़ानेसे समस्त पुष्पोंके चढ़ानेका फल प्राप्त होता है। पद्मसे बढ़कर अधिक प्रिय पुष्प शङ्करके लिये नहीं है। तुम पद्मके द्वारा ही मेरी पूजा करो। राम राम सीताराम, जय जय राम सीताराम।

हरिदास—तत्पश्चात् ?

पागल—राम राम सीताराम। श्रीलक्ष्मीजी श्रीभगवान्‌की बात सुनकर नित्य सरोवरसे सहस्र पद्मपुष्प लाकर तीन बार गणना करके उनके द्वारा शिवजीकी पूजा करने लगीं। राम राम सीताराम। इस प्रकार एक वर्ष पूरा होनेको ही था कि एक दिन लक्ष्मीजीने सहस्र पद्मोंसे शिवजीकी पूजा करते समय देखा कि दो पद्म कम हैं; राम राम सीताराम, जय जय राम सीताराम। ऐसा क्यों हुआ ? उनकी समझमें नहीं आया। मन-ही-मन सोचने लगीं—'प्रतिदिन तीन बार गिना करती थी। आज क्या भक्तिहीनताके कारण मैंने तीन बार नहीं गिना ? राम राम सीताराम, सीताराम। अब क्या किया जाय ? नित्य सहस्र पुष्पोंके द्वारा पूजा करनेके संकल्पकी आज कैसे रक्षा होगी ? पूजाके समय आसन-त्याग करना भी ठीक नहीं है। दूसरोंके द्वारा पुष्प आहरण करानेसे संकल्प भङ्ग होगा। क्या करूँ ? क्या करूँ ? राम राम सीताराम, जय जय राम सीताराम।'

हरिदास—उसके बाद ?

पागल—राम राम सीताराम। इस प्रकार सोचते-सोचते मनमें आया कि 'श्रीभगवान् मेरे स्तनद्वयको पङ्कजद्वय कहा करते हैं। उनकी बात मिथ्या नहीं हो सकती। आज इस स्तनद्वयको चढ़ाकर शिवकी पूजा करूँगी। सहस्र संख्या पूर्ण हो जायगी। राम राम सीताराम, जय जय राम सीताराम। ऐसा निश्चित करके उन्होंने वाम हस्तके द्वारा वामस्तन पकड़कर दक्षिण हस्तमें छूरी लेकर वाम स्तनको काट डाला। राम राम सीताराम। और आनन्दित मनसे उस रक्तात्त पयोधरको "नमः शिवाय" कहकर शिवके ऊपर चढ़ा दिया। फिर देवी दक्षिण स्तनको काटनेका उपक्रम करने लगीं। राम राम सीताराम सीताराम। उसी समय शिवजी स्वर्ण-लिङ्गसे आविर्भूत हो गये और बोले—"माँ! समुद्रतनये! अब स्तन मत काटो। तुम्हारा वाम स्तन पूर्ववत् हो जाय। मैं तुम्हारी परमा भक्तिसे बहुत संतुष्ट हूँ। राम राम सीताराम। तुम्हारी मनोकामना पूर्ण हो। जो स्तन काटकर तुमने मेरे मस्तकपर चढ़ाया है, वह पृथ्वीपर श्रीफल नामक वृक्ष होगा। तुम्हारी भक्ति वृक्षरूपमें मूर्तिमान् होकर जबतक चन्द्रमा और सूर्य रहेंगे, तबतक तुम्हारी कीर्तिकी घोषणा करती रहेगी। राम राम सीताराम सीताराम। देवी ! वह वृक्ष मुझे अति प्रिय होगा। उसके पत्रके द्वारा मेरी पूजा होगी। स्वर्ण, मुक्ता, प्रवाल आदि तथा अन्यान्य पुष्प बिल्वपत्रके कोटि अंशमें एक अंशके तुल्य भी नहीं होंगे। राम राम सीताराम सीताराम। जिस प्रकार मुझे त्रिनेत्र प्रिय हैं, जैसे गङ्गाजल प्रीतिप्रद है, वैसे ही बिल्वदल भी मुझे अतिशय प्रिय है।" राम राम सीताराम सीताराम।

तब लक्ष्मीजी प्रेमाश्रुपूर्ण नेत्रोंसे, भक्तिपूर्ण गद्गद कण्ठसे—

ॐ नमः शिवाय शान्ताय कारणत्रयहेतवे।
निवेदयामि चात्मानं त्वं गतिः परमेश्वर॥

—यह कहकर पुनः-पुनः शिवजीकी प्रदक्षिणा करती हुई प्रणाम करने लगीं। उसके बाद हाथ जोड़कर उन्होंने स्तुति की। राम राम सीताराम। शिवजी बोले—"विष्णुकान्ते ! मैं परम प्रसन्न हूँ। वर माँगो।" देवीने कहा—"हे शङ्कर ! आज मैं आपकी कृपासे यथार्थरूपसे विष्णुपत्नी बनी। आपका सुदुर्लभ दर्शन पाकर कृतार्थ हो गयी। हे प्रभो ! इससे बढ़कर और दूसरा कौन-सा वर है ? देव ? मैं आपके चरणोंमें प्रेमभक्तिकी प्रार्थना करती हूँ।" महेश्वर 'तथास्तु' कहकर अन्तर्हित हो गये। राम राम सीताराम, जय जय राम सीताराम।

हरिदास—बड़ी अपूर्व कथा है। बिल्ववृक्षकी ऐसी महिमा तो मैं नहीं जानता था। पागल बाबा, आपने आज बिल्ववृक्षको देखनेकी मुझे नयी आँखें दीं। ऐसे दर्शन करने योग्य वृक्षको कभी मैंने श्रद्धाके साथ नहीं देखा था। प्रणाम नहीं किया था। इस बार क्या हुआ, पागल बाबा ?

पागल—राम राम सीताराम, जय जय राम सीताराम। इसके बाद उस बिल्ववृक्षको कपालमोचन क्षेत्रमें रोप दिया गया। वैशाख शुक्लपक्षकी तृतीया तिथिमें यह वृक्ष उत्पन्न हुआ। राम राम सीताराम जय राम। वृक्षके उत्पन्न होनेपर ब्रह्मा, विष्णु और अन्यान्य देवोंने अपनी-अपनी पत्नीके साथ वहाँ उपस्थित होकर स्निग्ध त्रिपत्र, फल-युक्त, सुफलप्रद, अपने तेजसे दीप्त, शिवरूप, मङ्गलप्रद उस वृक्षका दर्शन करके, प्रणाम करके उसमें जल-सिञ्चन किया। राम राम सीताराम, जय जय राम सीताराम। तत्पश्चात् श्रीविष्णु भगवान् बोले—"इस पुण्य बिल्ववृक्षके मालूर, श्रीफल, शाण्डिल्य, शैलूष, शिव, पुण्य, शिवप्रिय, देवावास, तीर्थप्रद, पापघ्न, कोमलच्छद, जय, विजय, विष्णु, त्रिनयन, हर, धूम्राक्ष, शुक्लवर्ण और श्राद्धदेवल—ये उन्नीस नाम हुए। राम राम सीताराम, जय जय राम सीताराम। इसके ऊपर-नीचे चारों ओर सौ धनुषकी दूरीतक तीर्थ-स्थान होगा। राम राम सीताराम।

मधुर

यमुनाके तटपर अत्यन्त एकान्त स्थलमें श्रीराधाजी सब कुछ भूलकर व्याकुल बैठी हैं, मनमें बड़ी आतुरता है। श्यामसुन्दरके वियोगकी दुस्सह पीड़ासे वे अत्यन्त व्यथित हैं। वह सोचती हैं—श्यामसुन्दर अब कभी नहीं आयेंगे। वे बड़े बुद्धिमान् हैं; वे जान गये हैं कि राधा सब प्रकारसे हीन, मलिन और दोषोंकी खान है। इसीलिये वे मुझे सदाके लिये छोड़ गये हैं। सत्य ही है, मुझमें न तो तनिक-सा भी बाह्य सौन्दर्य है न मेरे हृदयमें ही सुन्दरताका लेश है। मेरा बाहर-भीतर अपरिमित दोषोंसे भरा है, अत्यन्त कठोर तथा कलुषित है। मुझमें कुबुद्धिकी विशेषता है (यह कुबुद्धि ही तो है जो मैं अपनेको उनके योग्य मानती हूँ)। इसीसे वे प्रियतम चले गये हैं, निस्संदेह यह उन्होंने सर्वथा उचित ही किया है। यह कुत्सित और अत्यन्त कुरूप देह उनके योग्य कदापि नहीं है। (वे गये, अच्छा ही हुआ) मेरे वे प्राणनाथ सुख प्राप्त करें। इसीमें मुझे अपरिमित आनन्द है। मुझे उन प्रियतमके वियोगकी भीषण विष-ज्वाला स्वच्छन्दतासे सदा जलाती रहे (और वे सुखी रहें)।

अति एकान्त, बिकल बैठी थी
आतुर मन कालिन्दी-कूल।
श्याम विरह दुस्सह पीड़ासे
व्यथित गयी थी सब कुछ भूल॥
"आवेंगे अब नहीं कभी, वे
छोड़ गये मुझको मतिमान।
जान गये मुझको सब बिधिसे
हीन, मलीन, दोषकी खान॥
नहीं बाह्य सौन्दर्य तनिक भी,
नहीं हृदय सुन्दरता-लेश।
अमित दोष पूरित बाह्यान्तर,
कलुषित कठिन कुबुद्धि बिशेष॥
इसी हेतु वे गये, किया
प्रियतमने समुचित निस्सन्देह।
नहीं कदापि योग्य है उनके
कुत्सित अति कुरूप यह देह॥
सुख पायें वे प्राणनाथ,
है अमित मुझे इसमें आनन्द।
प्रिय-बियोग-बिष-ज्वाला विषम
जलाती रहे मुझे स्वच्छन्द॥"

सब प्रकारसे इस (प्रेमवैचित्त्यके) भावमें मुग्ध हुई बाला (श्रीराधा) यों विचार कर रही थीं और वे मन-ही-मन निरन्तर प्रियतमके सुखकी माला जप रही थीं। प्रियतमकी सुखमयी स्मृतिसे एक-एक पलमें उनका हृदय नये-नये आनन्दसे भर रहा था। पर साथ-ही-साथ प्रियतमके वियोगकी दावाग्नि हृदयमें दाह पैदा कर रही थी। इसी भावविमुग्धतामें वे यह भूल गयीं कि यह कलकल-ध्वनि करती हुई यमुनाजीकी धारा बह रही है और उसी भावावेशमें वे उसमें कूद पड़ीं। उनका परम सुन्दर सम्पूर्ण शरीर जलमें निमग्न हो गया।

करती यों विचार थी, थी वह
भावमुग्ध सब बिधि बाला।
मन-ही-मन जप रही निरन्तर
थी वह प्रिय-सुखकी माला॥
प्रिय-सुख-स्मृतिसे एक-एक पल,
नव नव हृदय मोद भरता।
किंतु साथ ही प्रिय-वियोग-
दावानल हृदय दाह करता॥
भूल गयी वह कल-कल करती
बहती कालिन्दी-धारा।
कूद पड़ी, कमनीय कलेवर
सलिल-निमग्न हुआ सारा॥

इतनेमें ही उन्हें ऐसा लगा—किसीने उन्हें गोदमें उठा लिया है। सुकोमल तनका स्पर्श होते ही अङ्ग-अङ्गमें अमृत-रस भर गया। सारा खेद मिट गया और अत्यन्त

हर्ष छा गया। हृदय अत्यन्त हर्षपूर्ण हो गया, (इस आनन्दरसके आस्वादनमें) कुछ कालतक आँखें बंद रहीं। फिर तन-मनमें एक गुदगुदी उठी और श्रीराधाके विशाल नयनकमल खुल गये। उन्होंने देखा—वे प्रियतम श्यामसुन्दरके कोमल भुजपाशमें बँधी हैं। फिर देखा, प्रियतम निर्निमेष नेत्रोंसे उनकी ओर निहार रहे हैं। अधरोंपर मृदु मुसकान छायी है। दोनोंको परस्पर अपरिमित आनन्द प्राप्त हुआ, दोनोंके ही हृदयकुसुम तत्काल खिल उठे। तदनन्तर प्रिया-प्रियतममें अत्यन्त दिव्य रसमय रसालाप होने लगा।

लगा, किसीने लिया गोदमें,
हुआ सुकोमल तनका स्पर्श।
भरा सुधा-रस अंग-अंगमें
मिटा खेद, छाया अति हर्ष॥
हर्षपूर्ण हो गया हृदय अति,
रहीं बंद आँखें कुछ काल।
उठी गुदगुदी तन-मनमें, तब
खुले नयन-अरविंद विशाल॥
देखा बँधी हुई अपनेको
प्रियतमके कोमल भुजपाश।
देखा, देख रहे अपलक प्रिय,
छाया अधरोंपर मृदु हास॥
हुआ अमित आनन्द परस्पर,
विकसे हृदय-कुसुम तत्काल।
होने लगा प्रिया-प्रियतममें
रसालाप अति दिव्य रसाल॥

प्रियतम श्यामसुन्दर बोले—तुम भूल गयीं, हम दोनों साथ ही तो आये थे और दोनों ही यहाँ यमुना-तटपर एक दूसरेका कोमल हाथ लिये बैठे थे। इसी बीच तुम्हें प्रेम-वैचित्त्य हो गया। (तुम सब भूल गयीं) और तुम्हारे मनमें यह ज्ञान (प्रेमावेश) जाग उठा कि (प्रियतम यहाँ नहीं हैं), प्रियतमका बिछोह हो रहा है। तुम्हारी अनुपम प्रेमकी इस अतुलनीय महान् स्थितिको देखकर मैं मुग्ध हो गया। (फिर तुम जब कूदीं, तब) मैं भी तुम्हारे ही साथ यमुनामें कूद पड़ा और प्रिये! मैंने भुजाएँ पसारकर तुरंत तुमको गोदमें उठा लिया। मुझे अपार दिव्य आनन्दकी प्राप्ति हुई। मैं प्रियतमाके मुखकमलकी ओर अपलक दृष्टिसे देखता रहा। प्रेम-सुधा-रसका समुद्र उमड़ पड़ा। कहीं भी उसका ओर-छोर नहीं रहा। फिर मुझे प्राप्त हुए जानकर तुम्हारे 'प्रेमवैचित्त्य'का वह भाव हट गया और तब तुमको बाहरी ज्ञान हुआ। महिमामयी राधे! तुमको अपनी महिमाका तनिक भी भान नहीं है।

बोले प्रियतम—"भूल गयी तुम,
आये थे हम दोनों साथ।
दोनों ही बैठे यमुना-तट
लिये परस्पर कोमल हाथ॥
हुआ प्रेम-वैचित्त्य तुम्हें तब,
जागा मन वियोगका ज्ञान।
हुआ विमुग्ध देख मैं अनुपम
दिव्य प्रेमकी दशा महान॥
कूदा मैं भी साथ तुम्हारे,
लिया अंकमें भुजा पसार।
मैंने तुमको प्रिये! उसी क्षण,
मिला दिव्य आनन्द अपार॥
रहा देखता निर्निमेष मैं
प्यारी-मुख-सरोजकी ओर।
उमड़ा प्रेम-सुधा-रस-सागर,
रहा कहीं भी ओर न छोर॥
हटा भाव वह पाकर मुझको,
हुआ तुम्हें तब बाह्यज्ञान।
महिमामयी! नहीं तुमको है
किंचित् निज-महिमाका भान॥

योगवासिष्ठका मन्तव्य

(ज्ञान और कर्मका समन्वय)

(लेखक——श्रीगोपालजी 'स्वर्णकिरण', एम्० ए०, रिसर्च स्कॉलर)

योगवासिष्ठको एक महान् कर्मयोगशास्त्रके रूपमें स्वीकार किया जा सकता है, जिसका मूल लक्ष्य है—कर्म-अकर्म, कर्तव्य-अकर्तव्य, ज्ञान-अज्ञान, धर्म-अधर्म, पाप-पुण्य आदिके स्वरूपको स्पष्ट करना तथा आदर्श जीवन व्यतीत करनेके लिये उच्चतम आदर्श प्रस्तुत करना। योगवासिष्ठमें योगवासिष्ठकार महर्षि वाल्मीकिने बड़े पैमानेपर जन्म-जन्मान्तर, आत्मा-परमात्मा आदि तत्त्वोंका विश्लेषण किया है तथा अनेक आख्यानों एवं उपाख्यानोंके माध्यमसे शोक, मोह, वियोग, दुःख, विषाद आदिका वर्णन किया है। उन्होंने इनसे बचनेका उपाय भी बतलाया है और वह उपाय है—ज्ञानयोग और कर्मयोगका सम्यक्‌रूपसे परिपालन एवं व्यवहार। उन्होंने ब्रह्माके मुखसे अपने पौत्र (नारद-पुत्र कुम्भ) से कहलाया है—हे पुत्र (पौत्र भी पुत्ररूप ही होता है, इस अभिप्रायसे 'पुत्र' सम्बोधन अनुचित नहीं) कुम्भ! जिन जीवोंको ज्ञानरूपा दृष्टि प्राप्त नहीं हुई है उन लोगोंके लिये क्रिया ही बढ़-चढ़कर अवलम्बन है। (निर्वाण-प्रकरण ८७। १७) वास्तवमें, समुचित क्रियाके अभावमें ज्ञान और ज्ञानके अभावमें समुचित क्रिया दोनों सम्भव नहीं हैं। तात्पर्य यह कि कर्मयोग और ज्ञानयोग एक दूसरेके परस्पर पूरक हैं।

कहा गया है कि जिसका ब्रह्म-विचारमें एक क्षण भी मन स्थिर हुआ, उसने सब तीर्थजलोंमें स्नान कर लिया, सम्पूर्ण पृथ्वीका दान कर दिया, हजारों यज्ञ कर डाले, दसों हजार देवताओंकी पूजा की, संसारसे अपने पितरोंका उद्धार कर दिया और वह सबका पूज्य बन गया।

स्नातं तेन समस्ततीर्थसलिले सर्वापि दत्तावनि-
र्यज्ञानां च कृतं सहस्रमयुतं देवाश्च सम्पूजिताः।
संसाराच्च समुद्धृताः स्वपितरः सर्वस्य पूज्यो ह्यसौ
यस्य ब्रह्मविचारणे क्षणमपि प्राप्तं हि धैर्यं मनः॥

ज्ञानकी यह स्थिति अकस्मात् नहीं हो सकती। इसके लिये साधना एवं व्यवहारकी जरूरत पड़ती है। इससे यह स्पष्ट है कि जीवनके परम लक्ष्य मोक्षकी प्राप्ति—आवागमनके चक्रसे मुक्ति—सहज सम्भव नहीं है। महर्षि वाल्मीकिने ग्रन्थके प्रारम्भमें इस बातका स्पष्टीकरण अगस्त्य ऋषि एवं सुतीक्ष्णनामक शिष्यके संवादसे की है। अगस्त्यजीने, सुतीक्ष्णके प्रश्नका उत्तर देते हुए, बतलाया कि 'हे शिष्य! मोक्षके लिये कर्म और ज्ञान दोनों आवश्यक हैं। केवल कर्मसे ही मोक्षकी प्राप्ति हो जाय अथवा ज्ञानसे ही आवागमनकी बाधा नष्ट हो जाय, यह कदापि सम्भव नहीं है। कर्मसे अन्तःकरण शुद्ध होता है और अन्तःकरणकी शुद्धिसे ज्ञानका दिव्य प्रकाश होता है। बिना अन्तःकरण शुद्ध हुए ज्ञान दुर्लभ है और बिना ज्ञानके मोक्ष दुर्लभ है। इस प्रकार मोक्षके लिये कर्म और ज्ञान दोनों ही आवश्यक हैं। जिस प्रकार बिना दोनों पंखोंके पक्षी आकाशमें उड़ नहीं सकते, उसी प्रकार बिना कर्म और ज्ञान दोनोंके मोक्ष साध्य नहीं है।'

उभाभ्यामेव पक्षाभ्यां यथा स्वे पक्षिणां गतिः।
तथैव ज्ञानकर्मभ्यां जायते परमं पदम्॥
केवलात् कर्मणो ज्ञानान्नहि मोक्षोऽभिजायते।
किन्तूभाभ्यां भवेन्मोक्षः साधनं तूभयं विदुः॥

(वैराग्य० १। ७-८)

स्वधर्मके अनुसार अपने कर्तव्यका परिपालन योगवासिष्ठका प्रमुख मन्तव्य है और कर्तव्यके अन्तर्गत धर्मपालन, ज्ञानार्जन एवं जीवन-निर्वाह—सब कुछ समाहित है। चाणक्यने भी कहा है—'अपने धर्मका पालन स्वर्ग और मोक्षके लिये होता है। यदि कर्मोंका लोप किया गया तो वर्णसंकरता होकर संसारमें उथल-पुथल मच जायगी।' (अर्थशास्त्र १। ३। १४-१५) महर्षि वाल्मीकिने, श्रीरामचन्द्रजीको सम्बोधितकर, श्रीवसिष्ठजीके मुखसे कहलाया है—जो पुरुष स्वर्ग और मोक्षके उपयोगी सम्यक् व्यवहारके लिये शास्त्रका अनुसरण नहीं करता, उसका सब शिष्ट पुरुष बहिष्कार कर देते हैं और वह दुःखमें निमग्न हो जाता है। (उत्पत्ति-प्रकरण ९५। १८) अतः स्पष्ट है, कर्म-परिपालनके साथ-साथ शास्त्रानुशीलन भी आवश्यक है। शास्त्रीय नियम-धर्मोंके अनुसार किया गया कर्म हास्यास्पद नहीं हो सकता, न किसी प्रकारके दम्भ अथवा अहंकारको ही इङ्गित कर सकता है। हमें आलस्यसे बचकर अपने कर्तव्यमें अनुरक्त होना चाहिये। कहा भी गया है, आलसी पुरुष गदहेसे भी निकृष्ट हैं, अतएव उद्योगहीन

होकर हमें गर्दभतुल्य नहीं बनना चाहिये, किंतु स्वर्ग और मोक्षकी सिद्धिके लिये शास्त्रानुसार सदा यत्न करना चाहिये। 'मुझे दैव प्रेरित कर रहा है' ऐसा कहनेवाले दुर्बुद्धियोंको देखकर लक्ष्मी लौट जाती है—

दैवं सम्प्रेरयति मामिति दग्धधियां मुखम्।
अदृष्टश्रेष्ठदृष्टीनां दृष्ट्वा लक्ष्मीर्निवर्तते॥

(मुमुक्षु० ५।२०)

वस्तुतः, पूर्वजन्ममें फलकी उत्कट अभिलाषासे जो कर्म प्रबल प्रयत्नपूर्वक किया जाता है वही इस जन्ममें दैव होता है। जो दैव है, वही कर्म है—'यद्दैवं तानि कर्माणि।'(मुमुक्षु० ९।१८) दैव कर्मसे पृथक् नहीं। ऐसा समझकर ही हमें अपने सत्कर्मों एवं सत्कार्योंके द्वारा अपने भविष्यका निर्माण करना चाहिये।

महर्षि वाल्मीकिने पौरुषकी महिमाका भी वर्णन किया है और बतलाया है कि हम पौरुषसे भी बड़े-बड़े कार्य कर सकते हैं। पौरुषके अभावमें हम निष्क्रिय एवं जडीभूत हो जा सकते हैं। इससे महर्षिने यथास्थान हमें सचेत किया है। उन्होंने बतलाया है कि विश्वामित्र आदि श्रेष्ठ पुरुषोंने पौरुषसे ही पुरुषार्थ प्राप्त किया था। (मुमुक्षु० सर्ग ५) महात्मा प्रह्लादने जो कुछ प्राप्त किया वह पौरुषसे ही किया। (उपशम-प्रकरण सर्ग ३०) अतः पौरुषके माध्यमसे ही संसार-सागरका तरण करना श्रेयस्कर है। महर्षिने श्रीरामचन्द्रजी-को सम्बोधित कर, श्रीवसिष्ठजीसे कहलाया है—हे श्रीरामचन्द्रजी! पौरुष प्रयत्नका अवलम्बन करके इन्द्रियरूप पर्वतको लाँघकर संसाररूप सागरको पारकर परमपदको प्राप्त होओ।

पौरुषं यत्नमाश्रित्य प्रोल्लङ्घ्येन्द्रियपर्वतम्।
संसारजलधिं तीर्त्वा पारं गच्छ परं पदम्॥

(उपशम० ४३।१४)

ब्रह्मा, राजा पद्म, विदूरथ, राजा सिन्धु, राजा लवन, महात्मा दाशूर, राजा शिखिध्वज आदिके जीवन-वृत्तान्तोंके माध्यमसे महर्षिने संसारके रहस्योंको समझाया है और बतलाया है कि हमारा मन निम्नकोटिके कर्मोंकी ओर उन्मुख न हो जाय—राग (विषय-वासना) में लिप्त होकर हम अपने आपको भूल न जायँ, हम अपने लक्ष्यसे च्युत न हो जायँ। चित्तकी उपमा वेतालसे देते हुए महर्षिने श्रीवसिष्ठजीके मुखसे श्रीरामचन्द्रजीको सम्बोधितकर कहलाया है—'श्रीरामचन्द्रजी! चित्तको विविध विषय-वासनाओंमें फँसने नहीं देना चाहिये, उसे शान्त करना चाहिये। इसके शान्त होनेपर ही शरीरको अनुपम आनन्द प्राप्त होता है।'

संशान्ते चित्तवेताले यामानन्दकलां तनुः।
याति तामपि राज्येन जागतेन न गच्छति॥

चित्तकी शान्तिके उपरान्त ही हमें विकसित मनसे सब कुछ करना चाहिये। मनके अविकसित रहनेकी अवस्थामें प्रमादवश अकर्तव्य भी कर्तव्यसदृश प्रतीत हो सकता है, अकृतकार्य भी कृतकार्य बन सकता है। इसीलिये महर्षिने श्रीवसिष्ठजीके मुखसे 'कर्तृत्व'का विश्लेषण करते हुए कहलाया है—'कर्तृत्व किसे कहते हैं? शारीरिक क्रिया तो कर्तृत्व है नहीं; क्योंकि जो चेष्टा अबुद्धिपूर्वक की जाती है उसमें 'मैं करता हूँ' ऐसी प्रतीति नहीं होती। किंतु पूर्व-पूर्व कर्तृत्वकी वासनासे अनुरक्त मनोवृत्तिसे उत्पन्न हुई, यह कार्य है—इस प्रकारकी चित्तवृत्तिरूपसे परिणत मानसिक क्रिया ही कर्तृता है। (स्थिति० ३८।२) मन जो करता है, वही कृत होता है। जो नहीं करता, वह कृत नहीं होता।'

मनो यत्करोति तत्कृतं भवति यन्न करोति तन्न कृतं भवति।

(स्थिति० ३८।७)

आगे चलकर वे वसिष्ठजी ही श्रीरामचन्द्रजीसे कहते हैं—हे श्रीरामचन्द्रजी! विषमतारूप दोषसे निर्मुक्त निर्विकार स्वच्छबुद्धिसे जो कार्य निरन्तर किया जाता है वह कभी दोषदायक नहीं होता।

समया स्वच्छया बुद्ध्या सततं निर्विकारया।
यथा यत्क्रियते राम तददोषाय सर्वदा॥

(निर्वाण० उत्तरार्ध, १९९।७)

महर्षि वाल्मीकिने दारुवैविधकों (बहँगी ढोनेवालों) के आख्यान (निर्वाण-प्रकरण उत्तरार्द्ध, सर्ग १९६) के माध्यमसे एक अद्भुत संदेश हमारे सामने प्रस्तुत किया है। ये दारुवैविधक—बहँगी ढोनेवाले कर्मयोगी व्यक्तिका उदाहरण प्रस्तुत करते हैं। ये बहँगी ढोनेवाले बराबर लकड़ीद्वारा अपनी आजीविका चलाते रहे और कभी निराश नहीं हुए, मानो इस बातका उन्हें ज्ञान हो कि निरन्तर लगे रहना ही विजयकी सीढ़ी है। फलतः अन्तमें उन्हें तृप्ति मिली, लाभ-हानिके विषयमें वे समताको प्राप्त हुए। इनके माध्यमसे महर्षिने हमें बतलाया है कि हमें बराबर अपने कार्यमें लगे रहना चाहिये। यथाशक्ति एवं यथासम्भव विषय-वासनाओंसे हटाकर हमें अपनेको जीवन्मुक्त बनानेका प्रयत्न करना चाहिये। कर्मोंके अनाचरणको क्षतिहीन समझकर कर्मोंसे विराग न ले

लेना चाहिये, सदैव सत्कर्मों (सदाचरणों) का अनुवर्तन करते रहना चाहिये। (नि० प्र० उ० सर्ग १९९) ग्रन्थकी परिसमाप्तिके समय भी महर्षिने अगस्त्य ऋषिके मुखसे सुतीक्ष्ण नामक शिष्यको सम्बोधितकर कहलाया है—"हे सुतीक्ष्ण! कृतकृत्य हुए अग्निवेश्यके पुत्र कारुण्यने—'मैं कृतकृत्य हो चुका हूँ, फिर भी मैं लोक-शिक्षाके लिये श्रीरामचन्द्र आदिके समान ही यथाप्राप्त वर्ण और आश्रमके अनुकूल व्यवहार करता रहूँगा, जबर्दस्ती कर्मत्यागमें कौन आग्रह है'—यह कहकर, विवाहद्वारा कर्माधिकारी बनकर यथोचित समयमें शास्त्रानुसार वर्णाश्रमोचित स्नान, दान, अग्निहोत्र, अतिथि-पूजन आदि कर्म किये (नि०प्र०उ०२१६। १४-१५) और सुतीक्ष्णने भी अपनी कृतार्थता सूचित की।" इस प्रसङ्गसे यह स्पष्ट है, योगवासिष्ठ मोक्ष-शास्त्र होते हुए भी मूलतः ज्ञानयोग एवं कर्मयोगके समन्वयका आदर्श प्रस्तुत करता है और जीवनको जीवन्मुक्त, कर्मबन्धनसे मुक्त बनानेकी प्रेरणा देता है।

हमें योगवासिष्ठके मन्तव्यको दृष्टिपथमें रखकर ही ज्ञानयोगी एवं कर्मयोगी बनना चाहिये। इसीसे जीवनके उच्चतम आदर्शकी प्राप्ति सम्भव है। इस ओर वैदिक ऋषियोंने प्रारम्भसे ही **'उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत!'** नामक मन्त्रकी ओर हमारा ध्यान आकृष्ट किया है। हमें इसलिये सृष्टिके रूपमें भगवान्‌के दिये गये इस वरदानको उठकर (कर्मयोगी बनकर) और जगकर (ज्ञानयोगी बनकर) ही अपनाना चाहिये और निष्काम बुद्धिसे कार्यकर्ता बनना चाहिये। हमें ऐसा सोच लेना चाहिये कि जिस प्रकार सृष्टिमें क्रियाहीनता नहीं, उसी प्रकार हममें भी क्रियाहीनता नहीं होनी चाहिये। हमें थककर बैठ जाना नहीं चाहिये। 'किं कर्म किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिताः।' (गीता ४। १६) इस संसारमें केवल जीवित रहना ही तो कुछ पुरुषार्थ नहीं है। बल्कि पुरुषार्थ है—सद्‌ज्ञानके अर्जुन एवं सत्कर्मके परिपालनमें, जो शास्त्रीय विधि-विधानोंके अनुसार अनिवार्य एवं परिपालनीय हैं।

मेरा हृदय भगवत्कृपाके दिव्य प्रकाशसे आलोकित हो रहा है

अमावस्याकी रात्रिके चार बजे अचानक आँख खुली तो देखा चारों ओर अन्धकार-ही-अन्धकार है। समीप पड़ी वस्तु भी ठीकसे दृष्टिगत नहीं हो रही थी। मनमें चिन्ता हुई, 'यह अन्धकार भी क्या कभी दूर होगा! नहीं, कभी नहीं, अब जगत् अन्धकारसे ही पूर्ण रहेगा !!' इस निराशाके भावसे अभिभूत हुआ आँख बंद किये वहीं बैठ गया। थोड़ी ही देर बाद समीपके वृक्षपर चिड़ियोंकी चहक सुनायी पड़ी। आँख खोलकर देखा, दूर क्षितिजपर स्वर्णिम प्रकाश दृष्टिगोचर हो रहा है। दृष्टि उसीपर लग गयी। प्रकाश बढ़ता ही गया और देखते-देखते सर्वत्र पूर्ण आलोक हो गया। अन्धकारका अब कहीं पता ही नहीं है। समीपकी क्या, सैकड़ों गज दूरकी वस्तु भी दिखायी पड़ने लगी हैं। इतना ही नहीं, अब मेरा हृदय भी आशासे आलोकित हो रहा है। अपनी कमजोरियों, त्रुटियों, हीनताओं, विफलताओं, विपत्तियोंके कारण मेरा हृदय निराशा-अशान्तिके घनीभूत अन्धकारसे आच्छादित था; पर इस घटनाके आधारपर अब मुझे विश्वास हो रहा है कि भगवत्कृपाका सूर्य सबपर समानभावसे आलोकित है। अतएव उसके प्रकाशके सामने अपने हृदयको उन्मुक्त करके रख रहा हूँ और हृदयका एक-एक कोना प्रकाशसे भर गया है। अब निराशा-अशान्तिरूपी अन्धकारका कहीं नामोनिशान भी नहीं है। अब मैं पूर्ण आशावान् हूँ, पूर्ण शान्त हूँ और सबकी आशा और शान्तिके लिये प्रयत्नशील हूँ।

मेरा हृदय भगवत्कृपाके दिव्य प्रकाशसे आलोकित हो रहा है।—कृष्ण

गीत

(रचयिता—डा० श्रीहरिवंशरायजी 'बच्चन')

तेरी दुनियाको प्यार किया है मैंने।
ज्ञानीने मुझसे कहा कि सब माया है,
तूने नासमझीसे धोका खाया है,
रस्सीका टुकड़ा है, गजरा लगता है,
यह सत्य नहीं है, सपनेकी छाया है।
जादूगर यह अपराध न कहलायेगा,
तेरा जादू स्वीकार किया है मैंने।
तेरी दुनियाको प्यार किया है मैंने।
यह सपना हो तो क्या, हर जगह सलोना,
माना कि इधर सुरभित फूलोंका दोना,
पर उधर कठिन शूलोंका जाल बिछा है,
यदि यह सुखमय तो दुखमय है यह कोना,
क्या मृदुल कुसुम, क्या चुभनेवाला काँटा,
सबसे अपना शृंगार किया है मैंने।
तेरी दुनियाको प्यार किया है मैंने।
यह भी माना यह सब बातोंका भ्रम था,
पाँवोंके नीचे शून्य कठोर—नरम था,
था शब्द बना सूनेपनकी प्रतिध्वनिसे,
नीरवताका नर्तन था जो सरगम था,
हिम कहकर सम्भव नहीं जिसे झुठलाना,
ऐसा उरमें अंगार लिया है मैंने।
तेरी दुनियाको प्यार किया है मैंने।
उन्माद मिलनका झूठ नहीं हो सकता,
अवसाद विरहका झूठ नहीं हो सकता,
मंजिल जबतक उम्मीद न देती जाये,
कोई जीवनका भार नहीं ढो सकता।
इस दर्द, खुशी, आशाकी सचाईको,
इन द्वन्द्वोंमें जीनेकी कठिनाईको,
छन्दोंमें कुछ साकार किया है मैंने।
तेरी दुनियाको प्यार किया है मैंने।

उत्तराखण्डकी यात्रा

(लेखक—सेठ श्रीगोविन्ददासजी, श्रीमती श्रीरत्नकुमारी देवी, श्रीगोविन्दप्रसाद श्रीवास्तव)

[पिछले वर्षके पृष्ठ १३८७ से आगे]

दूसरे दिन अर्थात् ५ जूनको हमलोग भटवारीसे रवाना हुए । भटवारीसे लगभग पाँच मीलतक रास्ता अच्छा था। यद्यपि मार्ग पगडंडीका ही था, तथापि वह ठीक कर दिया गया था। इसी प्रकार यदि पगडंडीके रास्ते ठीक कर दिये जायँ तो यात्रियोंको काफी सुविधा हो जाय । पाँच मीलके बाद लगभग चार मील गङ्गनानीतकका मार्ग बुरा था, वही ऊबड़-खाबड़ बीहड़। गङ्गोत्तरीके इस मार्गमें हमने गङ्गाके तेज प्रवाहके ऊपर झूलते लकड़ीके अनेक पुलोंको पार किया था । ये पुल गङ्गाके इस पार और उस पार दो-दो लोहेकी राडोंपर खिंचे लोहेके मोटे तारोंपर झूलते रहते हैं। पुलपर लकड़ीके पटियोंका पटाव रहता है। जब इन्हें यात्री पार करते हैं, तब ये झूलेके सदृश हिलते हैं। फिर उनके हिलते ही जब यात्रीकी नजर नीचे गङ्गाके तेज प्रवाहपर जाती है, तब इष्टदेवका नाम याद आ जाता है और वह नाम-जप करता हुआ जल्दी ही पाँव बढ़ाता है। ऐसा ही मार्गमें आज हमें एक भयंकर पुल मिला । भयंकर इसलिये कि अबतक मिले पुलोंकी अपेक्षा यह बहुत बड़ा था । गङ्गा यहाँ प्रवाहमें नहीं, अपने कूल-किनारोंपर रोष-प्रकट करती हुई रौद्ररूप धारण किये चल रही थीं । उनके कोपसे कम्पित ये कूल-किनारे अपना स्थान-सा छोड़ते दृष्टिगोचर होते थे। कदाचित् इसीलिये गङ्गाके दोनों ओरकी पर्वत-उपत्यकाओंमें काफी दूरी-पर इस लोहेके पुलके आधार-खम्भ स्थापित किये गये थे, जिसमें पुलकी मजबूतीमें कमी न रहे। गङ्गनानीसे इस तरफ गङ्गा काफी विस्तारमें बहती हैं, किंतु फिर भी उतनी नहीं जितना बड़ा यह पुल था। गङ्गनानी मुकाम छोड़ते वक्त भी ऐसे ही एक बड़े पुलसे भागीरथीको पार करना होता है। यद्यपि यह पुल उससे कहीं अधिक लंबा था, तथापि इसकी लंबाई ही हमारे भयका कारण नहीं थी वरं इसकी यह लंबाई तथा भागीरथीके प्रवाहकी यह भयंकरता दोनोंने ही मिलकर यहाँ एक भयंकरता-रूपी पुलका निर्माण कर दिया था, जिसे हमें पार करना था। फिर दुर्गम मार्ग पार करते हुए हमें इस पुलके निकट पहुँचनेके लिये एक दुर्गम उतार भी पार करना पड़ा और ज्यों-ही पुलके समीप आये पुलका आकार-प्रकार और भागीरथीका प्रवाह देखकर कुछ भयभीत हो स्तम्भित-से रह गये। पुलके समीप इस पार एक तख्ती लगी थी, जिसपर लिखा था 'एक बारमें केवल दो आदमी या एक ही खच्चर पुल पार करें।' खच्चर तो हमारे साथ नहीं था, आदमी हम-लोग बारह थे, इनमें भी कुछ पीछे थे । अक्सर पीछे पड़े पुलोंको पार करते यात्रियोंको हमने देखा था, जो इन सूचना-ओंकी—अधिकांश तो पढ़े-लिखे न होनेके कारण, कुछ अज्ञानतावश—अवहेलनाकर एक ही बारमें ३-३,४-४, इकट्ठे निकल जाया करते थे। अतः इसी भेड़ियाधसानवाली सम्भावनासे हमलोग यहाँ अपने साथवालोंकी प्रतीक्षामें रुक गये। जब सब लोग पहुँच गये, तब दो-दो नहीं, एक-एकको छोड़ा । इस पारसे 'जै गङ्गा मैया' बोल एक आदमी जाता और उस पारसे टकटकी लगाये अपने साथवाले दूसरे आदमीको पुल पार करते बड़े मोहग्रस्त मनसे देखता। इस तरह बारी-बारी हमारे दलने यह पुल पार किया और एक दीर्घ निःश्वास छोड़ आगे बढ़े।

आज भी हमारी मंजिल नौ मीलकी ही थी। अब यहाँ मार्गकी बीहड़ताके साथ ही प्राकृतिक दृश्योंका सौन्दर्य बढ़ चला था। चीड़के वृक्षोंके स्थानपर देवदारके वृक्ष आ गये थे। जैसा कि पीछे कह आये हैं, चीड़के वृक्ष भी बड़े सुन्दर होते हैं, किंतु देवदारके उनसे भी सुन्दर। खूब ऊँचे, एकदम सीधे और अत्यन्त गहरे हरे। चीड़के वृक्षोंकी हरियाली हल्की होती है पर देवदारके वृक्षोंकी एकदम गहरी। इनकी शाखाएँ वृक्षकी पिंडसे प्रायः भूमिको स्पर्श करती-सी निकलती हैं कुछ नीचेको झुकी हुई। इन शाखाओंको देख मनमें उठता है कि जिस भूमिसे वृक्ष उत्पन्न हुए हैं, उस जननी-जन्मभूमिको उन्नत जीवनकी आकांक्षासे प्रेरित हो क्या ये अपनी शाखाओंरूपी भुजाओंसे नत-प्रणाम कर रहे हैं । अनेक स्थानोंपर जहाँ ये वृक्ष गङ्गाके कूलपर हैं, वहाँ भी इनकी शाखाएँ इसी प्रकार नत हो गङ्गाको प्रणाम करती दृष्टिगोचर होती हैं । अनेक जगह इन वृक्षोंकी शाखाएँ वृक्षोंके ऊपरी भागमें ऐसी गोलाकार हो गयी हैं, जान पड़ता है अपने नीचेकी भूमिपर ये वृक्ष छत्र लगाये हैं। हिमालयके अङ्ग इन

देवदारके वृक्षोंसे हरित हो रहे थे और इन शिखरोंके ऊपर भी ये वृक्ष कतारोंमें कलशोंके सदृश खड़े हुए थे। इनका फैलाव नीचेसे ऊपरकी ओर शनैः-शनैः छोटा होता जाता है और अपनी पूर्ण ऊँचाईपर इनकी टहनियोंका फैलाव कम होते-होते कलशनुमा हो जाता है, यहाँतक कि अन्तिम ऊँचाईपर इनकी एक शाख नोकके सदृश हो जाती है। हमारा मत है कि प्रकृतिने देवदारके वृक्षको वनस्पति-जगत्‌में सबसे अधिक सौन्दर्य दिया है और सौन्दर्यकी इस सर्वश्रेष्ठताके कारण उसे 'वृक्षराज' कहना अनुपयुक्त न होगा। पंक्तिबद्ध देवदार वृक्षोंसे आच्छादित हिमालयकी शिखरावलीकी यह सुन्दरता गङ्गाके प्रवाहके कारण कहीं अधिक बढ़ गयी थी। चीड़के सदृश देवदारका वृक्ष भी बहुत उपयोगी होता है। इस ओरके तो सारे मकान देवदारकी लकड़ीके ही बने रहते हैं। यहाँतक कि उनकी छावनी भी देवदारके पटियोंकी ही रहती है। किसी-किसी मकानकी दीवारोंमें पत्थरका उपयोग किया जाता है; किंतु एक तो पत्थरका उपयोग बहुत कम मकानोंकी दीवारोंमें होता है, दूसरे पत्थरकी जुड़ाईके बीचमें देवदारकी लकड़ीका पटाव भी दिया जाता है। फिर यह लकड़ी मैदानोंमें भी जाती है और रेलके स्लीपर, मकानों और मन्दिरोंकी छतों तथा समुद्री जहाजों—स्टीमरों आदि अनेक कामोंमें आती है। देवदारके वृक्षोंके सिवा यमुनोत्तरीके सदृश किंतु यमुनोत्तरीसे भी अधिक हरित और सघन वनस्पतिकी यहाँ सृष्टि हुई है।

अनन्त प्रकारके वृक्ष, पौधे, लता, बेल, झाड़ी और झुरमुटोंका यहाँ ऐसा अम्बार लगा है, जान पड़ता है वनस्पति-जगत्‌की सारी सम्पदा यहीं संगृहीत है। फिर इस वन-वैभवसे पूरित हिमवान्‌का शृङ्गार भी देखनेयोग्य बन पड़ा है।

मार्गके ये दृश्य अवलोकते अपनी नौ मीलकी मंजिल तयकर अपराह्णमें हमलोग गङ्गनानी पहुँचे। यहाँ भी हमारे ठहरनेका प्रबन्ध वन-विभागके विश्रामालयमें था। यह विश्रामालय काफी ऊँचाईपर बना है—पैदल रास्तेसे जब हम अपने इस मुकामपर जाने लगे, तब काफी ऊँचाई चढ़नी पड़ी दम फुलानेवाली। विश्रामालयके सामने काफी नीचे भागीरथी बहती हैं और नीचे ही गङ्गाके उस पार चट्टीकी धर्मशाला और कुछ दूकानें आदि हैं। हमारे विश्रामालयके निकट ही तीन गरम पानीके कुण्ड थे। यमुनोत्तरीके बाद गङ्गोत्तरीमार्गमें हमें पहली बार इस तरहके तप्तकुण्ड मिले। इनके नाम थे—सूर्य-कुण्ड, नारद-कुण्ड और व्यास-कुण्ड। यद्यपि इनका गङ्गासे कोई सम्बन्ध नहीं था और यमुनोत्तरीके सदृश ही गन्धकके पहाड़से जलप्रपात होनेके कारण इनका निर्माण हो गया था, तथापि तप्त-कुण्ड होनेके कारण एक तीर्थ बन गये थे। यात्री श्रद्धापूर्वक इनमें स्नान करते थे और याचक ब्राह्मणोंको दक्षिणादि देते थे। रत्नकुमारी, उनकी माताजी आदि प्रायः सभीने यहाँ इन तप्तकुण्डोंमें स्नान किया। गङ्गनानीकी ऊँचाई ६४०० फुट होनेके कारण सर्दी नहीं थी। अतः इन कुण्डोंका पानी उनके लिये बहुत गरम था।

यहाँ हमलोगोंने शान्तिसे भोजनादि किया और आराम करने लगे। संध्या-समय लगभग ८ बजेका वक्त था। सब लोग अपने बिस्तरोंपर थे। गोविन्दप्रसादने गोविन्ददाससे कहा—आपसे एक संन्यासी मिलना चाहते हैं। गोविन्ददासने अपने आनेकी सूचना देनेको कहा और बिस्तरसे उठकर वे संन्यासीजीसे मिलने चले। उक्त संन्यासीजी हमारे पासवाले कमरेमें ठहरे हुए थे। सहज भावसे गोविन्ददास उस कमरेमें पहुँचे, जहाँ संन्यासीजी ठहरे हुए थे। कमरेमें एक ओर मोमबत्तीका प्रकाश था और इसी कमरेमें एक ओर एक तेजस्वी बालयोगी खड़ा उनकी प्रतीक्षा कर रहा था। गोविन्ददासने दोनों हाथ जोड़कर उन्हें प्रणाम किया। योगीने समीप ही पड़े एक आसनपर गोविन्ददासको बैठनेका संकेत करते हुए एक दूसरे आसनपर स्वयं बैठते हुए कहा—क्षमा कीजिये, आपको कष्ट दिया। गोविन्ददास बोले—आपका परिचय? 'परिचय तो आपसे पुराना है, विद्यार्थी-जीवनमें आपके साहित्यको पढ़ा था, प्रभावित हूँ; आपके यहाँ मौजूद होनेकी बात मालूम कर साक्षात्कारके लिये लालायित हो उठा।' ये स्वरसधे संयत और सुधा-सी सरसानेवाले वचन सुन गोविन्ददासकी उत्सुकता बढ़ी, उक्त योगिराजका परिचय पानेकी। उन्होंने पुनः आग्रह किया—आपने अपना परिचय नहीं दिया। योगिराज बोले, मेरा वेश ही मेरा परिचय है। गोविन्ददासने कहा—सो तो मैं देख ही रहा हूँ, किंतु मेरी इच्छा थी आपका पूर्व परिचय पानेकी। योगिराजने उत्तर दिया—'संन्यासी अतीतपर दृष्टि नहीं डालता, वह वर्तमानमें भविष्यके लिये ही उद्योग करता है, फिर भी आपके आग्रहसे संक्षेपमें इतना ही निवेदन करूँगा कि कालेजकी पढ़ाई समाप्त करते-करते वैराग्यके भाव जगे और संसारविरक्त हो इस पथका पथिक बन गया।' अपनी जन्मभूमि, माता-पिता तथा परिवार आदिके सम्बन्धमें अनेक बार पूछनेपर भी जब उन्होंने कुछ परिचय नहीं दिया, तब गोविन्ददास बोले 'ठीक ही है, बहता पानी

और रमता जोगीका परिचय तो उसके दर्शन और सम्पर्कका ही विषय है; उसके अतीतको कौन पूछता है। क्षमा कीजिये, मैंने वृथा ही आपको छेड़ कष्ट पहुँचाया।' संन्यासीके ओठोंपर मृदु हास था, वे बोले 'मेरा नाम 'प्रेमवर्णी' है, इतना ही स्मरण रखिये।' कुछ देर गोविन्ददासकी और योगिराजकी अन्यान्य विषयोंपर—जिनमें साहित्य, योग और संन्यास-पक्षकी ही बातें थीं—चर्चा होती रही।

श्रीप्रेमवर्णीजीके साथ हमें गङ्गनानीके इसी विश्रामालयमें ब्रह्मचारी श्रीव्यासदेवजीके भी दर्शन हुए, जिनके दर्शनसे हम उत्तरकाशीमें वञ्चित रह गये थे। व्यासदेवजीके पास प्रेमवर्णीजी शिष्यके रूपमें रहते हैं। व्यासदेवजी और प्रेमवर्णीजी गङ्गोत्तरी, उत्तरकाशी और ऋषिकेशके स्वर्गाश्रममें वर्षमें ऋतुकालके अनुसार निवास करते हैं।

यहाँ व्यासदेवजीसे भी हमारी अनेक विषयोंपर, विशेषकर योगमार्गपर चर्चा होती रही। उनके 'योगनिकेतन' आश्रमके सम्बन्धमें भी बहुत-सी बातें ज्ञात हुईं, जिनमें प्रमुख यह थी कि योगनिकेतनके संचालनके लिये किसीसे भी एक पाई चंदा स्वीकार नहीं किया जाता। इस संस्थाके कुछ ट्रस्टी हैं, जो इस संस्थाका समस्त खर्च चलाते हैं। श्रीव्यासदेवजीकी इस संस्थाके आश्रम दो स्थानोंपर हैं। पहला उत्तरकाशी, दूसरा गंगोत्तरी। उत्तरकाशीके योगनिकेतनकी कुछ चर्चा पीछे उत्तरकाशी मुकाममें हुई है। इन आश्रमोंमें आनेवाले अतिथियोंका सेवा-सत्कार यथासाध्य किया जाता है—उनके निवासकी ही व्यवस्था नहीं, उनके भोजनादिका भी प्रबन्ध होता है; किंतु यह सारा खर्च-सम्बन्धी प्रबन्ध संस्थाका जो ट्रस्ट है, वही करता है। श्रीव्यासदेवजी एवं श्रीप्रेमवर्णीजीकी इस भेंटसे हमें बड़ी प्रसन्नता हुई। यह भेंट हमारे लिये एक दैवयोग ही थी।

गत चार दिनोंसे हम जिस निरखसे पाँव बढ़ा रहे थे, उसी निरखके मापमें आज फिर गंगोत्तरी-मार्गके अपने पाँचवें मुकाम सुक्कीके लिये भोर होते ही चल पड़े। सुक्कीकी आजकी हमारी मंजिल फिर नौ मीलकी थी।

मार्गमें दोनों ओर देवदारके वृक्षोंकी हरियालीसे आच्छादित गिरिराजकी शिखरावली और इसके मध्यमें वेगवती भागीरथीकी धवलधारा एक अजीब शानसे बहती कैसी भली मालूम होती। जहाँ देखो तहाँ चतुर्दिक् वनश्री विराज रही थी और उसमें भी भक्तिमयी भागीरथीका जो नाद मुखरित हो रहा था, उसके कारण इस अरण्यखण्डका चप्पा-चप्पा मानो कोई गीत गा रहा हो, ऐसा जान पड़ता। यात्रियोंका समूह उसी ओर बढ़ रहा था, जहाँसे भागीरथी आ रही थीं और भागीरथी उस ओर जा रही थीं, जहाँसे यात्री आ रहे थे। दोनों भिन्न-पथगामी थे, भिन्नलक्षीय। किंतु उद्देश्य दोनोंके समान थे। यात्री कृतार्थ होने जा रहे थे, भागीरथी कृतार्थ करने निकली थीं और कृतकृत्य होने जा रही थीं।

सुक्की पहुँचनेके कुछ पूर्व हमें गंगोत्तरीके हिमानी-शिखर दिखने लगे। अब हम सुक्कीके करीब समुद्रसतहसे लगभग ८७०० फुटकी ऊँचाईपर चल रहे थे। नौ मीलकी इस मंजिलने आज हमें थका दिया था। गंगनानीके बाद लगभग २६०० फुटकी ऊँचाई हमें चढ़नी पड़ी, फिर सुक्कीके निकट जिस प्राथमिक शालामें हमारे आजके मुकामकी व्यवस्था थी, उसमें पहुँचते-पहुँचते हमें कड़ी चढ़ाई चढ़नी पड़ी। काफी थक चुके थे, इसी समय हमारे सामने यात्रियोंका एक दल एक छोटे रास्ते (शार्टकट) से सुक्कीकी ओर बढ़ा। जल्दी ही मुकाम पानेकी लालसाने हमारे पाँव भी इसी छोटे रास्तेपर बढ़ा दिये। यह रास्ता क्या था—जैसा नाम वैसा जरूर था। छोटा जिसके मायने यहाँ संकीर्ण और फिर एकदम सीधा। हमलोग सीधे एक पहाड़की चोटीपर चढ़ रहे थे; चढ़ते-चढ़ते जब थक जाते, तब शिलाखण्डपर बैठ जाते। बैठते ही थकान और बढ़ जाती, पाँव भर जो चुके थे। अपने साथवाले भारवाहकोंसे जब हम पूछते—'भाई, अब कितनी दूर है?' उनका उत्तर होता, थोड़ी दूर। उनके इस कथनपर हमें चिढ़ पैदा होती; क्योंकि यह थोड़ी दूर हम अनेक बार सुन चुके थे और इस थोड़ीकी बड़ाई, उसकी प्रभुतासे अब काफी ऊब चुके हैं। पर उन बेचारोंका भी क्या दोष। फिर जब हम किसी शिलाखण्डपर बैठ अपने इर्द-गिर्दके ऊँचे-ऊँचे शैल-शिखरोंको देखते, ऐसा मालूम पड़ता कि इनकी बराबरीपर ही हम पहुँचनेवाले हैं, यद्यपि ये काफी ऊँचे थे। काफी ऊँचाईपर चढ़ चुकनेके कारण इन शिलाखण्डोंपर बैठे जब हम निकट दिखते (यद्यपि वे काफी दूर थे,) आकाश-चुम्बन करते गिरिशृङ्गोंको निहारते तो एक सामीप्य और सादृश्य अनुभव करते उनके साहचर्यमें गगनचुम्बनका रसास्वादन करने उनके साथ ही समरस हो जाते। किंतु यह स्वर्गसुख स्वल्प ही होता। शरीरपर श्रमका साम्राज्य जो था। आज उसे हम बलात् घसीट रहे थे। प्याससे हमारे कण्ठ सूख गये, मुकामकी प्रतीक्षामें आँखें पथरा गयीं और चलते-चलते पाँवोंने जवाब दे दिया। पर मानवने तो

बढ़ना ही सीखा है। हिम्मत कर बढ़े। चार-छः पग चलते, फिर बैठ जाते। इस तरह इस दुर्गम घाटीको चढ़ सुक्की चट्टीके समीप पहुँचे। चटपट चट्टीकी दूकानपर उबले हुए आलू खाये, किसीने गरम चाय पी, किसीने झरनेका शीतल पानी। यहाँ हमारे पंडाजी मिल गये। हमने उनसे पूछा—कहिये कहाँ चलना है? उन्होंने तपाकसे कहा—स्कूल। गोविन्ददासने कहा—वही स्कूल तो हम पूछ रहे हैं पंडाजी। पंडाजीने हाथसे संकेत करते हुए बताया—अभी कुछ दूर याने चट्टीसे लगभग एक मील और चलना पड़ेगा। गोविन्ददासने फिर पूछा—अब चढ़ाई तो नहीं है? उत्तर मिला, चढ़ाई ही है। हमलोग बड़ी परेशानीमें पड़े। अब क्या किया जाय? पैर आगे बढ़नेको कतई तैयार नहीं थे। फिर आगे बढ़नेकी बात सभीको ऐसी लगी जैसे किसी मरीजका कोई बड़ा (मेजर) आपरेशन उसकी होशमें करनेके उपरान्त जब उसे यह मालूम हो जाय कि आपरेशन सफल समाप्त हुआ, ठीक उसी वक्त उससे एक और आपरेशनकी बात कही जाय। पर जिंदगीका जो मोह, एक लंबी मंजिलकी जो आशा रहती है—जिसमें स्वेच्छासे बुरी-से-बुरी दुर्दशा होनेपर भी उस मोहसे कोई पिण्ड नहीं छुड़ा पाता, उसी तरह हमारे सामने तो सुक्कीकी पाठशाला नहीं, गंगोत्तरीकी लंबी मंजिल थी। अतः एक और आपरेशनके लिये हम तैयार हो गये। अपनी लाठी उठा लड़खड़ाते पाँव आगे बढ़े और किस तरह सुक्कीकी इस पाठशाला पहुँचे, यह मत पूछिये।

पाठशालामें पड़ाव डाल दिया, पर न नहानेकी हिम्मत न हाथ-पैर हिलानेकी। जी चाहता निश्चल, निश्चेष्ट पड़े रहें। लगभग एक-डेढ़ घंटा लेटकर उठे, कुछ शक्ति संचित की, फिर नहाया-धोया और भोजन किया। फिर सो गये।

सोकर उठे और सुक्कीकी सुषमा निहारने लगे। यहाँसे हमें जो हिमानी-शिखर दिख रहा था, उसकी ऊँचाई पंद्रह-सोलह हजार फुट बतायी गयी। देवदारके वृक्षोंकी हरियालीसे रक्षित-सा यह हिमानी-शिखर स्फटिकके विशाल शिवलिङ्गके सदृश जान पड़ता। शिखरावलीका रूप भी कुछ जलहरीके सदृश ही था। फिर इर्द-गिर्द बादलोंके श्वेत दल केवल आकाशमें ही नहीं इन श्रृङ्गोंपर विचरण कर रहे थे, मानो उनकी ऊँचाई नाप रहे हों। ये उनका चुम्बन-सा करते उठते-बैठते नजर आते। प्रायः निर्मल आकाशके बीच हिमाच्छादित शिवलिङ्ग-के सदृश यह शिखर इस शिखरके दायें, बायें और सामनेकी ओर जलहरीके सदृश हरित शिखरावली, इधर-उधर विचरण करते हुए मेघोंके श्वेत खण्ड और निर्मल नभमें ज्येष्ठ मासका उदित अर्द्धचन्द्र तथा हिमानी-शिखरके ठीक नीचे बहता हुआ भागीरथीका विकल प्रवाह। जान पड़ता मानो शिवलिङ्गके पीछेकी जटाओंसे यह प्रवाह बहकर सामनेकी ओर आ रहा हो। हम निरन्तर निर्निमेष दृष्टिसे न जाने कितनी देरतक सुक्कीकी इस रमणीय संध्याके दृश्यको निरखते रहे। रत्नकुमारीकी काव्यशक्ति मुखरित हुई और उन्होंने कुछ गुनगुनाते हुए एक गीत गाना आरम्भ किया।

गीत

भीगा बादल-पट निचोड़ नभ फैलाता समीरके अङ्क।
सूखा पट सूनेमें उड़ता, लहरें ले फर-फर निशङ्क॥
दौड़ समीर समेट लगाता शैल शिखरपर पट-अम्बार।
धवल, श्याम, स्वर्णिम, सिन्दूरी—विविध रंगके वस्त्र अपार॥
शैल-शिखरकी वंकिम माला, देवदारु-द्रुम हरित नितान्त।
घेर हिमानी उच्च श्रृङ्गको, मानो बनी जलहरी कान्त॥
स्फटिक-विनिर्मित पिण्डी शिवकी, मानो गोलाकृति हिमश्रृङ्ग।
पृष्ठभागसे जटा विनिःसृत, बहती गंगा तुङ्ग तरङ्ग॥
विस्मय-मुग्ध, हर्षसे पुलकित, लख महानता अति अभिराम।
मानव-मन श्रद्धासे विनमित, स्वयं-भूतको करे प्रणाम॥
शिवका धाम पुनीत, हिमालय, कण-कणमें शङ्कर-अधिवास।
सरिताएँ निर्झर जल गंगा, सत् गुण-मय समीर-उल्लास॥

(क्रमशः)

तौ लगि या मन सदन मैं, हरि आवैं किहि बाट।
बिकट जटे जौ लगु निपट, खुटैं न कपट-कपाट॥
भजन कह्यौ तासौं भज्यो, भज्यो न एकौ बार।
दूरि भजन जासौं कह्यो, सो तू भज्यो गँवार॥

—बिहारीलाल

जीवनका लक्ष्य

(लेखक—विद्यामार्तण्ड डा० मङ्गलदेव शास्त्री)

सद्भावनाप्रसूनैर्यद् वासितं सुमनोहरम्।
सर्वलोकसमाकर्षि तत्पदं मे प्रकाशताम्॥ १ ॥

सद्भावना-रूपी कुसुमोंसे जो सुरभित और सुमनोहर है, जो समस्त लोकको आकृष्ट करनेवाला है, वह पद मेरे लिये प्रकाशित हो।

नैराश्यमन्धतामिस्रं यतः सर्वं निवर्तते।
आशाप्रकाशविच्छिन्नं तत्पदं मे प्रकाशताम्॥ २ ॥

आशाके प्रकाशसे विच्छिन्न होकर घोर अन्धकाररूपी सारा नैराश्य जहाँसे निवृत्त हो जाता है, वह पद मेरे लिये प्रकाशित हो।

सेवितं सततं सद्भिः सूरिभिर्गतमत्सरैः।
सदाचारपरैः शुद्धैस्तत्पदं मे प्रकाशताम्॥ ३ ॥

ईर्ष्यासे रहित, सदाचारमें तत्पर, पवित्रात्मा और विद्वान् सत्पुरुषोंद्वारा जो सदा सेवित है, वह पद मेरे लिये प्रकाशित हो।

सति दुःखेऽप्यनुद्विग्नमादर्शमनु निश्चितम्।
उत्तरोत्तरमुत्कर्षि तत्पदं मे प्रकाशताम्॥ ४ ॥

दुःखके आनेपर भी जो उद्विग्नतासे रहित है, आदर्शके प्रति जो दृढ़ है और उत्तरोत्तर उत्कर्ष करनेवाला है, वह पद मेरे लिये प्रकाशित हो।

सत्यानुसंधानपरा लोककल्याणसेतवः।
आश्रित्य यस्थिता धीरास्तत्पदं मे प्रकाशताम्॥ ५ ॥

सत्यके अनुसंधानमें तत्पर और लोकके कल्याणके लिये सेतुरूप धीर पुरुष जिसका आश्रय लेकर सदा रहते हैं, वह पद मेरे लिये प्रकाशित हो।

विषादेनावसादेन निर्मुक्तं मुक्तसंशयम्।
कर्तव्यपथमारूढं तत्पदं मे प्रकाशताम्॥ ६ ॥

विषाद और अवसादसे जो रहित है, संशय जहाँ नहीं है और कर्तव्यके मार्गपर जो आरूढ़ है, वह पद मेरे लिये प्रकाशित हो।

श्रमेण तपसा नित्यं संयमेन समन्वितम्।
विनयेनापि संजुष्टं तत्पदं मे प्रकाशताम्॥ ७ ॥

जो श्रम, तपस् और संयमसे सदा समन्वित है और विनय भी जहाँ विद्यमान है, वह पद मेरे लिये प्रकाशित हो।

येनेदं मधुमद् विश्वं स्वयं यन्मधुमत्तमम्।
मधु यन्मधुविद्यायास्तत्पदं मे प्रकाशताम्॥ ८ ॥

जिससे विश्वका माधुर्य सम्पन्न होता है, जो स्वयं निरतिशय माधुर्यसे युक्त है, जो मधु-विद्या[1]का मधु है, वह पद मेरे लिये प्रकाशित हो।

प्रेम्णा स्नेहेन दिव्येन कारुण्येनार्जवेन च।
पृथिवी स्वर्गायते येन तत्पदं मे प्रकाशताम्॥ ९ ॥

जिसके कारण दिव्य प्रेम और स्नेहसे तथा कारुण्य और आर्जवसे यह पृथिवी स्वर्ग बन जाती है, वह पद मेरे लिये प्रकाशित हो।

भाषासीमामतिक्रम्य स्वरूपेणैव संस्थितम्।
यदेतच्छाश्वतं तथ्यं तत्पदं मे प्रकाशताम्॥ १० ॥

भाषाकी सीमाका अतिक्रमण करके जो अपने रूपसे ही स्थित है और जो शाश्वत तथ्यरूप है, वह पद मेरे लिये प्रकाशित हो।

तत्तन्नामभिराख्यातं विभिन्नैः साम्प्रदायिकैः।
वस्तुतस्तैरसंस्पृष्टं तत्पदं मे प्रकाशताम्॥ ११ ॥

विभिन्न सम्प्रदायोंके लोग भिन्न-भिन्न नामोंसे जिसका निर्देश करते हैं, परंतु वस्तुतः जो उन नामोंसे असंस्पृष्ट है, वह पद मेरे लिये प्रकाशित हो।

मोहेन तमसा हीनमानन्दरसनिर्भरम्।
दिव्येन ज्योतिषा दीप्तं तत्पदं मे प्रकाशताम्॥ १२ ॥

मोह और अज्ञानसे जो रहित है, आनन्द-रससे जो आप्लावित है और अलौकिक प्रकाशसे जो प्रकाशित है, वह पद मेरे लिये प्रकाशित हो।

यत्र स्थिता महात्मानस्तत्त्वमव्ययमद्वयम्।
पश्यन्त्यलौकिकं दिव्यं तत्पदं मे प्रकाशताम्॥ १८ ॥

जहाँ स्थित होकर महात्मालोग दिव्य अलौकिक शाश्वत तथा अद्वितीय परमतत्त्वका साक्षात्कार करते हैं, वह पद मेरे लिये प्रकाशित हो।

---

१. तु बृहदारण्यकोपनिषद् २। ५

वैज्ञानिक संजीवनी

(Vaccine Honey)

(लेखक—श्रीविश्वामित्रजी वर्मा)

लेखकका निवेदन

रोग-दुःख मिटे बिना जीवनकी सार्थकता नहीं, हमारा कल्याण नहीं होता। परंतु रोग-दुःख जन्मसे ही मानवका जीवन-साथी है, संसारमें इससे कोई नहीं बचता। आदिम अज्ञानावस्थामें रोगको भूत-प्रेतों, देवी-देवताओंका कोप समझा जाता था और अब भी समझा जाता है। ज्योतिषी रोगका कारण ग्रह-नक्षत्रोंको बताते हैं। आगे चलकर योगी, आयुर्वेदिक, यूनानी और अनेक विज्ञानी—एलोपैथी, होम्योपैथी, बायोकेमिस्ट्रीवालोंने अपनी खोजोंसे अपने मत प्रचलित किये और आज पुरानी रूढ़ियोंके साथ-ही-साथ रोगका कारण कीटाणुओंको माना जाता है। जो वैज्ञानिक हैं और रोगोंके इलाजके ठेकेदार बनते हैं, दीर्घ-जीवन और अमरताकी कीमियाँ ढूँढ़ते हैं, उन्हें भी रोग होता है और वे मर जाते हैं। आधुनिक विज्ञानी कहते हैं—रोग कीटाणुओंसे होता है, कीटाणुओंको जहरसे मारो, कीटाणुओंसे बचो। दूसरे प्रकृतिवादी कहते हैं—'रोगसे ही कीटाणु उत्पन्न होते हैं, शरीरमें विष-विकार संचित होनेसे सड़ाँद और सड़ाँदसे कीटाणु होते हैं, अतएव शरीरकी सब प्रकारसे सफाई करो, कीटाणु नष्ट हो जायँगे। संयमसे रहो, स्वस्थ रहोगे।' तीसरा क्रिश्चियन साइंस कहता है कि रोग कोई चीज नहीं, मनकी कमजोरी और अज्ञान है।

ये तीनों प्रकारके लोग अपनी पद्धति सिद्ध करते हैं। गरीब लोग किसी दवाके बिना, उपवास करके, पानी पीकर चंगे हो जाते हैं और बहुत इलाज करके हजारों रुपयों खर्च करके भी लोग नहीं बच पाते। जंगली पशुओंको रोग होता नहीं देखा गया, उन्हें किसी दवाकी जरूरत नहीं पड़ती। रोग वास्तवमें क्या है, क्यों होता है, किस प्रकार मिटता है, दवासे मिटता है या आप ही मिटता है, इससे कैसे बचा जा सकता है ? जो लोग कहते हैं कि दवा करो, अथवा जो कहते हैं कि दवा न खाओ—इन सबमें किसकी बात मानी जाय ? एक बड़ी समस्या बनी हुई है। हिंदू ज्योतिषी कहते हैं—सूर्य पृथ्वीकी परिक्रमा करता है। पाश्चात्य विज्ञानी कहते हैं—पृथ्वी सूर्यकी परिक्रमा करती है। दोनोंके सिद्धान्तोंमें परस्पर विरोध होते हुए भी दोनोंके गणितके आधारसे ग्रहण और ऋतुएँ होनेका हिसाब ठीक बैठता है।

भूल और भ्रम होना स्वाभाविक है; क्योंकि मानव अल्पज्ञ है, परंतु सबकी भूलका सबपर एक-सा असर नहीं होता। यह भी रहस्यकी बात है। एक व्यक्ति जो चीज खाकर जीता है, वह दूसरेके लिये विष होती है। चिकित्साके क्षेत्रमें अधिकांश लोग विज्ञानके साथ-साथ अन्धविश्वास रखते हैं और विरला ही कोई व्यक्ति समझदारीसे काम लेता है। जहाँ बुद्धि लगानी चाहिये, वहाँ अन्धविश्वास रखते हैं और अन्धविश्वासके स्थानपर अपनी अक्ल अड़ाते हैं। परलोक और मुक्तिके क्षेत्रमें अन्धविश्वाससे लोग तर जाते हैं; किंतु इस लोकके चिकित्साक्षेत्रमें, जीनेकी कलामें अन्धविश्वाससे लोग मर जाते हैं। यह सब देखकर किसीने कहा है कि यह दुनिया पागलखाना है। दूसरे लोकोंमें जिन लोगोंका दिमाग खराब हो जाता है, उन्हें वहाँके लोग धक्का देकर इस दुनियामें भेज देते हैं।

यह दुनिया पागलखाना है या वैज्ञानिक प्रयोगशाला—इसका निर्णय इन शब्दोंको आगे-आगे पढ़कर आप चिकित्सा-क्षेत्रके वैज्ञानिक शोधोंके प्रमाणित तथ्य पढ़कर स्वयं कर लेंगे। जैसे हमारा चर्मवेष्टित शरीर बाहरसे चिकना-चमकदार मालूम होता है किंतु इसके भीतरकी घृणित दुर्गन्धित चर्याको हम चर्मके आवरणके कारण नहीं देख पाते, नहीं जान पाते, उसी प्रकार वैज्ञानिक चिकित्साके जादुई चमत्कारसे यद्यपि हम चकित होकर अन्धविश्वासपूर्वक उसपर मुग्ध हो रहे हैं, तथापि उसके अन्तरङ्ग रहस्योंको प्रकट न करके हमसे छिपाया जाता है और रोगोंके इलाज करके जब रोगोंकी बढ़ती होती देखते हैं, तब हम किंकर्तव्यविमूढ होते हैं। जिस वस्तुको अमृत-संजीवनी, वैज्ञानिक संजीवनी मानकर हम अपनी भलाईके लिये सेवन करते हैं, उससे लाभ न होकर हमारा रोग बढ़ता है, मौत होती है, तो इसका रहस्य क्या है ?

हम यहाँ जान-बूझकर डॉक्टरों या वैज्ञानिकोंके प्रति कोई दुर्भाव रखकर सब कुछ नहीं लिख रहे हैं और विज्ञानको बिल्कुल निकम्मा, अनावश्यक या पूर्ण विनाशकारी नहीं सिद्ध

कर रहे हैं। न हम इनका होना निरा अनावश्यक है, यही कहते हैं। हम तो यहाँ बुद्धिमानीके साथ विचार करनेके लिये अनुभवी वैज्ञानिकों और संस्थाओंके प्रयोग-सिद्ध तथ्य दे रहे हैं। वैज्ञानिक भी मानव हैं, विज्ञान भी मानवकृत खोज है और स्वभावतः अथवा स्वार्थतः मानवसे भूल होती है, अथवा वह कुछ अनैतिक कर्म भी कर बैठता है। शिक्षित क्षेत्रमें सेवाके नामपर व्यवसाय अथवा व्यवस्था करनेमें डॉक्टरों तथा वैज्ञानिकोंकी सबसे महत्त्वपूर्ण एवं नाजुक जिम्मेदारी है; क्योंकि वे मानव-जातिका सौदा करते हैं, उनके हाथोंसे, प्रयोगों अथवा चिकित्सामें या विकास कार्य-प्रणालीमें, अज्ञानतासे अथवा लापरवाहीसे या कहीं-कहीं स्वार्थनिहित नीतिसे मानवमें रोग बढ़ रहे हैं। यही रहस्य देखना है कि विकास, भलाई और सेवाके नामपर सब कुछ करते हुए भी अनायास यह सब क्या अंधेर हो रहा है?

None of the learned professions has so great a need of a lofty moral code as the medicinal one, since the members of no other profession can lapse into criminal or criminally careless behaviour with such disastrous results. Second come the brokers of law and justice, and the monopolists of religions, and morals leading mankind beyond this sensual realm to the gate of heaven and salvation.

शिक्षित व्यवसायोंमें सबसे पहला नंबर डॉक्टरका है; क्योंकि वह दुखी मानवके जीवन और मृत्युके बीचका सौदा करता है, अतएव उसका नैतिक स्तर सबसे ऊँचा होना चाहिये। इनके बाद नंबर आता है कानून और न्यायके दलालों—वकीलोंका और तीसरा नंबर है धर्म और ईमान, आत्मा और परमात्माके ठेकेदारोंका, जो भोले अन्धविश्वासी अज्ञानी लोगोंको परलोक, स्वर्ग और मोक्षके दरवाजेतक ले जानेके लिये जिम्मेदारी लिये हुए हैं। इन सबके अंदर स्वयं अपने प्रति कितना व्यावहारिक ईमान है। इनका विज्ञान स्वयं इनके लिये कितना सचा है! दवाओंमें कितनी संजीवनी है, डॉक्टर स्वयं कितने स्वस्थ रहते हैं, वे स्वयंको उचित चर्यासे कितना स्वस्थ रखते हैं तथा उनका परिवार कितना स्वस्थ है, उन्होंने स्वयंपर अनेक आविष्कृत संजीवनी नुस्खोंका कितना अनुभव लिया है, अथवा वे केवल शिक्षा पाकर, प्रचारित विज्ञापन, डॉक्टरी संघकी नीति अथवा पेट-परिवारके स्वार्थवश, व्यवसाय और नकद आमदनी बढ़ाने मात्रके लिये अन्धानुकरण कर रहे हैं।

संसारी मानव अल्पज्ञ असंयमी है। उनको रास्ता बताने, व्यवस्थित और नीरोग रखनेकी जिम्मेदारी थोड़े-से शिक्षितों, वैज्ञानिकों, महन्तों और शासकोंने ली है। वे सब अपनी जिम्मेदारी किस प्रकार निभाते हैं, उनमें कितना नैतिक बल और विज्ञान है—आगे प्रमाणितरूपमें स्पष्ट किया गया है—पढ़ते चलिये।

वैज्ञानिक संजीवनी अर्थात् प्रयोगद्वारा सिद्ध अनुभवसे प्राप्त विशेष ज्ञानद्वारा तैयार की हुई वस्तु, जो मानवके दुःख-दर्दको दूर करके उसे नवजीवन प्रदान करे। इन शब्दोंमें आधुनिक वैज्ञानिक कही जानेवाली, दुनियाकी सरकारोंद्वारा पोषित और जनताद्वारा विश्वस्त मान्य, प्रचलित चिकित्सा-पद्धतिके सिद्धान्तों, प्रयोगों, आविष्कारकों, व्यवसायियों, वैज्ञानिकोंद्वारा बनायी गयी चमत्कारिक गोलियों, इंजेक्शन और कुशल चीर-फाड़के सम्बन्धमें प्राप्त अनुभवोंका प्रमाणित एवं संसारभरके विख्यात अनुभववृद्ध वैज्ञानिकोंके शोध और अन्तस्तलसे निकले उद्गारोंका प्रकाशित यह संग्रह है। आदिसे अन्ततक इन शब्दोंको पढ़कर, आजतक मानवके इस सेवा-परोपकारी नामसे परिचित वैज्ञानिक स्वार्थी व्यवसायका थोड़ा परिचय मिलेगा और दरअसल मालूम होगा कि मानव-शरीर, रोग, दवाके विषयमें वैज्ञानिक चिकित्सकोंको कितना ज्ञान है, अबतक उन्होंने क्या किया है, क्या कर रहे हैं और आगे उसका हमपर तथा हमारे गर्भस्थ तथा भविष्यके वंशजों-पर क्या प्रभाव पड़ेगा इस विषयमें सम्भवतः आप कुछ कल्पना कर सकें!

मानवकी उन्नतिका इतिहास कुछ हजार वर्षका ही कहा जाता है; अनन्त कोटि असीम अथाह अकल्पनीय ब्रह्माण्डमें राई या रेत-कण जैसी इस कुछ अरब वर्षोंकी उम्रवाली पृथ्वी-पर; लाखों, करोड़ों, अरबों, अगणित······अदृश्य सूक्ष्म, महासूक्ष्म अणु, परमाणु, त्रसरेणु, चतुरणुक, जीवाणुओं, कीटाणुओं और कोषाणुओंके समष्टि-सहयोगसे उत्पन्न, विकसित प्रफुल्लित प्रबुद्ध (?) मानव भी एक अल्पज्ञ कीटाणु दृश्य-मान क्रियमाण है, जो विनष्टकारी साधनोंसे, विषाक्त प्रयोगोंसे, पृथ्वीको स्वर्ग बनानेके लिये और पृथ्वी छोड़कर अन्य दूरस्थ लोकोंकी सैर करनेके लिये कटिबद्ध है।

यह पार्थिव क्षणभङ्गुर जीवन ऐन्द्रिक सुख-दुःखरूपी इष्ट-अभीष्ट अनुभवोंसे विचित्र मिश्रित है। इन द्वन्द्वोंसे जन्म-मृत्यु-

के बीच कोई कभी नहीं बचा और इन्हीं द्वन्द्वोंसे बचनेके लिये हमेशासे होशमें आनेपर आजतक भूमि-आकाशमें चराचर सब तत्त्वोंपर मानवने हाथ रगड़ा और माथा पटका है' आहुति दी है, अनेक घृणित एवं अमानुषिक दानवी कर्म भी किये हैं···और अब भी कर रहा है! उन्नति और सुखके लिये अपने-से अधिक सूक्ष्म और शक्तिशाली घातक शत्रुओं, रोगाणुओं-कीटाणुओंसे बचनेके लिये, चैनसे जीनेके लिये!

इस मिट्टी-पानीके बुलबुले संसारमें चौरासी लाख प्रकारके जीवोंमें मनुष्येतर किसी प्राणीको इतना कुछ भी संघर्ष नहीं करना पड़ा। मनुष्यकी नजर-पकड़से बचे हुए वे मजेमें रहते हैं; परंतु जो धर-पकड़में आ गये, मानवने उनकी अकल्पनीय दुर्गति की है।

मानवने अपनी वैज्ञानिक बुद्धिसे, उन असहाय भोले प्राणियोंके रस, रक्त और विष-रसायनोंसे मिश्रित गोलियाँ, तुपकें (बंदूक, पिस्तौलकी गोलियाँ-जैसी—इंजेक्शनके एम्पूल) और कलात्मक वैज्ञानिक छुरीबाजीके साधनोंका आविष्कार किया है और मानवपर अखिल विश्वमें 'प्रयोग' कर रहे हैं, अपने उन अदृश्य शत्रुओं—रोगके कीटाणुओंको नष्ट करनेके लिये, रोग, दुःख, दर्दसे बचनेके लिये।

अपने इस गौरवपूर्ण इतिहासकी दीवाली-होली मनानेके लिये मानव अपने हाथमें अबोध बच्चेकी तरह, अपनी बनायी हुई रंगीन चमकदार फुलझड़ी और पटाखे लिये है। उससे क्या परिणाम होगा यह देखनेके लिये उसने हिरोशिमा और नागासाकी (जापान) शहरोंको भस्म कर दिया। इस विस्फोटकी ज्वाला दो सौ मीलके क्षेत्रमें, एक सौ मील ऊपर आकाशतक फैली, उठी और इस हिसाबसे बीस हजार घन-मीलका वातावरण विषाक्त अग्निमय होकर सब कुछ भस्मी-भूत हो गया। साथ ही अपने रोगी देहके विषाक्त कीटाणुओंको नष्ट करनेके लिये जो चमत्कारिक दवाकी गोलियाँ, इंजेक्सन और छुरीबाजीके 'प्रयोग' हो रहे हैं, उनमें जो वैज्ञानिक अन्धज्ञान है, उसीको दूर करनेके लिये इसे कागज-पर छपे शब्द न समझकर अङ्गार, आग और मनोबम, मानसिक बम, METABOMB ON SCIENTIFIC SUPERSTITION जानें।

मानव-जीवनके हरेक क्षेत्रमें व्यापक एवं देखा-देखी परम्परासे स्वरचित प्रचलित रूपमें संगठित षड्यन्त्रोंकी घातक बुराइयाँ फैली हुई मानवको अपने जालमें इस तरह बाँधकर जकड़े हुए हैं कि मानो ये सब उसके लिये आवश्यक हैं और इनके बिना वह जी नहीं सकता, जैसे कि नालीके कीड़े नालीको अपना स्वर्ग समझते हैं। अगणित शब्दोंकी चिन-गारियोंसे बना यह मनोबम आपके इस अन्धविश्वासको दूर करे, आपके दिल-दिमागमें पहुँचकर अन्धज्ञानको भस्म करे, इसी हेतु संसारके विख्यात अनुभवी विश्वमान्य वैज्ञानिकोंके प्रयोगों और अनुभवोंका निष्कपट, निष्पक्ष यथातथ्य संग्रह इसमें किया गया है। विज्ञान, सभ्यता और स्वतन्त्रताके गर्वमें मानव अब भी कितना बन्धनमें है, गुलामीमें धँसा हुआ है—यह सब पढ़-देख-जानकर इसीमें सच्ची आजादीका नया मोर्चा सहज स्पष्ट होता है। इसको स्वयं बड़े ध्यानसे पढ़कर तथा पड़ोस, मुहल्ले या गाँववालोंको सुनाकर-समझाकर, देशव्यापी घृणित, घातक वैज्ञानिक अन्धविश्वास और अन्धानुकरणका भ्रमजाल काटनेका प्रयत्न हरेक व्यक्ति करे तो समाज तथा देशकी अनमोल सम्पत्ति—स्वास्थ्य एवं जीवनको मृत्युकी ओर ले जानेवाली विज्ञानकी नालीमें व्यर्थ बह जानेवाले अपरिमित धनको बचाकर अन्य उपयोगी रचनात्मक योजनाओंमें लगाया जा सकता है।

केवल राजनीतिक स्वतन्त्रतासे देशका कोई यथार्थ उपकार तबतक नहीं होता जबतक कि देशकी जनता स्वस्थ न हो। जनतामें वैज्ञानिक विकास और रोगनाशके नामपर रोगोंका जबरदस्ती बीजारोपण करना, स्वास्थ्य-विकासके लिये पौष्टिक खाद्य-पेय पदार्थोंके नामपर हवा, पानी, भूमि, फल-फसलोंमें रासायनिक विषाक्त तत्त्वोंका प्रवेश कराना, व्यवसायद्वारा अनिष्ट-कारी पदार्थोंका प्रचलनकर अधिकाधिक रहस्यमय असाध्य रोग फैलाना—यह सब विज्ञान और स्वतन्त्रताका पाखण्ड है। इनका बहिष्कार करने तथा इनको नष्ट करनेके लिये प्रत्येक व्यक्तिको सामूहिक संगठनकर इस अन्धविज्ञानी प्रथाका विरोध करनेका देशव्यापी अभियान चलाकर देशसे निकाल फेंकनेको कमर कस लेनी चाहिये, जिससे हमारी स्वतन्त्रता सच्ची सिद्ध हो और मानवजाति इस जंजालसे निकल सके।

वैज्ञानिक अज्ञान

आधुनिक प्रचलित पाश्चात्य ओषधि-विज्ञानका सबसे पहला डॉक्टर ढाई हजार वर्ष पहले यूनानी हिपोक्रेट्स था। ईलीयटने 'अपनी पुस्तक आउटलाइन ऑफ ग्रीक एण्ड रोमन मेडिसिन' में लिखा है, 'ओषधि-विज्ञानके इतिहासमें हिपोक्रेट्स-की प्रतिभा बेजोड़ है। वे रोगको स्वाभाविक मानते थे और रोगका अच्छा होना भी स्वाभाविक मानते थे। अर्थात् रोग

स्वाभाविक कारणोंसे अपने-आप पैदा और अच्छा होता है, डॉक्टर तो प्रकृतिके सेवकमात्र हैं ।' उसके इन बातोंपर पैथागोरसका असर मालूम होता है ।

उसका कहना था कि शरीरका इलाज करनेके लिये पूरी बातें जान लेनी चाहिये । इन्हीं बातोंसे वह सारे ग्रीसमें प्रसिद्ध हो गया और प्लेटोने सब वैद्य बननेवालोंको उसीका शिष्य बननेकी सिफारिश की थी । किसी प्रकारकी विषाक्त दवा न देना, चीर-फाड़ न करना, स्वार्थपूर्ण बदनीयत न रखना, शुद्ध प्रेम और सेवाभावसे इलाज करना, किसी स्त्रीका गर्भपात न करना—ये उसके नियम थे और ऐसे ही नियमोंकी शपथ वह अपने शिष्योंसे लेकर उन्हें दीक्षित करता था । यह शपथ आजकल भी प्रथानुगत चल रही है; परंतु वह अब नाममात्र केवल तोता-पाठकी तरह रह गयी है ।

हिपोक्रेटस्के लगभग पाँच सौ वर्ष बाद विख्यात समझदार वैद्य गेलेन (Galen) हुआ जो रोमके बादशाह मारकस औरिलसका निजी चिकित्सक भी था । वह अरस्तुका अनुगामी और गम्भीर प्रकृतिनिरीक्षक था और शरीरके विकारोंको दूर करनेके लिये, विरुद्ध प्रकृतिवाली जड़ी-बूटीका काढ़ा पिलाया करता था । मानव-शरीरकी रचनाका ज्ञान उसे नहीं था, वह घरेलू पालतू जानवरोंकी चीर-फाड़से कुछ ज्ञान प्राप्त करता था । जैसे कुत्ते, बंदर, सूअर आदि । उसकी बहुत-सी गम्भीर अज्ञानभरी बातोंका अन्धानुकरण यूरोपके विश्वविद्यालयोंमें सोलहवीं शताब्दीतक होता रहा और आगे चलकर प्रतिभाशाली हेनिमेनकी १८१० में 'आर्गेनन' प्रकाशित हुई । परंतु प्रचलित अज्ञान और अन्धविश्वासमें धँसे चिकित्सकों-ने उसका भरपूर विरोध और उपहास किया । धर्मगुरु लोग तो मानव-रोगोंको भूत-प्रेतोंका कोप अथवा ईश्वरका अभिशाप या अकृपा मानते थे, और बहुत-से लोग अब भी मानते हैं । आधुनिक वैज्ञानिक लोग मानते हैं कि शरीर-पर बाह्य तत्त्वोंके उत्पात या आघातसे रोग होते हैं और बाहरकी वस्तुएँ शरीरमें डालकर शरीरके भीतर प्रतिक्रिया उत्पन्न करके ही उसकी भीतरी घट-बढ़के विकारको ठीक किया जा सकता है । यह वही सिद्धान्त है जिसके अनुसार गेलेन, अबसे अठारह सौ वर्ष पूर्व इलाज करता था, अतः आधुनिक मेडिकल साइंसमें कितना अन्धविश्वास है अथवा कितना विज्ञान है, यह स्पष्ट हो जाता है कि रोगको बाह्य कारणों (कीटाणुओं) से उत्पन्न मानकर, इलाज करनेके लिये अन्य पशुओंके घृणित रस, रक्त, मवाद, रोगोत्पादक कीटाणुमिश्रित विष-रसायनोंका इजेक्शन शरीरके रक्तमें घोला तथा प्रवाहित किया जाता है । कीटाणुओंको मानवका शत्रु बनाकर इन वैज्ञानिकोंने मानव-जीवनको असाध्य बना दिया और विष प्रसार किया । हवा, पानी तथा भोजनकी वस्तुओंमें विषरसायन घोलकर अधिक रोग पैदा करके मानवको आजीवन रोगी और अपंग बना दिया । जिसने कीटाणुवादका प्रचार किया, उसके प्रति खुले दिलसे आधुनिक डॉक्टर लियोनार्ड विलियम्सने डॉक्टरी अखबार 'मेडिकल प्रेस' के ११ मार्च १९३१ के अङ्कमें पृष्ठ २१० पर स्पष्ट लिखा था; 'कीटाणु ही वह भूत है जिसे वैज्ञानिक अज्ञानी मानवने ढूँढ़ निकाला है और रोगी मानव भी कितना अज्ञानी है कि ऐसे आविष्कारक-के सामने वह सिर झुकाता है । कीटाणुनाशक विषौषधोंपर दुनियाकी सरकारें करोड़ों रुपये खर्च करती हैं और अरबोंका व्यापार चलता है । यह वैज्ञानिक पाखण्ड नष्ट होना चाहिये । "It is high time that this pseudo-scientific nonsense died down." अमेरिकाके वैज्ञानिक मासिक पत्र 'लेबॅरेटरी' के जिल्द १४, अङ्क ५, १९४४ (फिशर साइन्टिफिक कम्पनीद्वारा प्रकाशित) में लिखा है; "bacteria, contrary to the average layman's impression, are among men's most helpful agents. It has been estimated that less than 10 per cent of all bacteria are harmful to man; the others are either beneficial or potentially beneficial through continued study. The attention given the 1 per cent which produces harmful effects has obscured the helpful effects of the 99 per cent."

अर्थात् शरीरमें केवल एक प्रतिशत कीटाणु हानिकारक हैं, परंतु इनसे जो हानि होती है, उसे ही सब कुछ मानकर ९९ प्रतिशत कीटाणुओंसे होनेवाले लाभपर वैज्ञानिकोंने काला पर्दा डालकर दुनियाको उल्लू बनाकर अपना स्वार्थ साधन किया है ।

कीटाणुयुगमें शोध करते-करते विरकोव् (Virchov) ने निदानमें कीटाणुओंको कोष (cell) रूपमें देखा और पास्त्योर (Pasteur) के आधारपर ही उसने इसे एक प्रकारका जीवाणु (biological atom) बताया कि इन्हींके परस्पर विषम मिश्रणसे शरीरमें विकार होते हैं, रोग होते हैं । भौतिक परमाणुसे अब वे सजीव परमाणुपर आ गये और डॉ० जे० ई० आर मेकडोनाफ, एफ० आर० सी० एस०

(J. E. R. Mc Donagh. F. R. C. S) ने अपनी खोजोंसे इस सिद्धान्तको प्रोटोप्लास्मके रूपमें मानव रक्तपर लाकर स्थिर कर दिया और रोग तथा स्वास्थ्य, दोनों दशाओंमें प्रोफेसर बिकाम्प और पास्त्योरके समान इन सूक्ष्म जीवाणुओंको माइक्रोजाइमा समाजके अन्तर्गत व्यक्तिगत दशाओंमें रोग और स्वास्थ्यका कारण बताया। डारविनने जैसा बताया था कि प्राणी एक ही मूलसे अनेक परिस्थितियोंसे शाखाओंमें, रूप-रंग आकारमें विभाजित हुए, उसी प्रकार मेकडोनाफने अपनी आधी जिंदगी इस खोजमें खपाकर ते पाया कि रोगोत्पादक कीटाणु भी इसी प्रकार परिस्थिति-भेदसे बनकर पनपते हैं, जिनका मूलस्रोत आँतोंमें होता है, आँतोंमें अपक्व और बहुमिश्रित पदार्थोंके पड़े रहनेसे ऐसा होता है कि वहाँ अनेक प्रकारके कीटाणुओंकी प्रकृति और आकार बदलते हैं जो रोगका कारण बन जाते हैं।

"Various pathogenic bacteria as branches stemming from one common trunk, the original parent bacteria being normal inhabitants of the human intestine...the harmful bacteria being revolutionary mutations of the primary micro-organisms, the change in their type and virulence being brought about by alterations in the metabolism of the human body, and influence of radiations from the sun, stars and nebulae.

परंतु आजके दूसरे अनुगामी वैज्ञानियोंकी पहुँच इतनी सूक्ष्म और दूरतक नहीं हुई है और वे इन बातोंको माननेको तैयार नहीं हैं। प्रोफेसर सी० जे० पेटन और प्रोफेसर रुडाल्फ पीटर्स तो अपनी खोजोंसे प्रोटोप्लाज्म तककी हरेक वस्तु और जीवाणुको आध्यात्मिक तत्त्व मानते हैं (postulate a psychic life to all living things, even to the ultimate particles of protoplasm), जैसा कि एच० पी० ब्लावात्स्कीने अपनी पुस्तक 'सीक्रेट डाक्ट्रिन' में सजीव सूक्ष्म परमाणुओंद्वारा विश्वरचना होना बताया है।

The countless myriads of living particles that build up material body and its cells, flourish plants and build universe into visible from invisible—जो अदृश्यलोकसे स्थूललोककी, शरीरके तन्तु एवं वनस्पति आदिकी साक्षात् रचना करते हैं, जो स्वयं पूर्ण होनेके साथ परस्पर सहयोग-संगठनसे एक स्थूल दृश्यमान पूर्णकी रचना करते हैं, वे सब निरे जड नहीं, परंतु चेतन विद्युन्मय हैं।

और अब पारस्परिक चेतन रचनात्मक सिद्धान्तको लेकर तन-मनकी पारस्परिक चिकित्सा-पद्धति Psycho-somatic medicine चल पड़ी, जिसके अनुसार मनके विचारों, आवेगोंका प्रभाव शरीरके तन्तुओंपर होता है, तो साथ ही शरीरकी विकृत दशासे मनको भी रोग होता है; अतएव दोनोंकी चिकित्सा आवश्यक है, केवल मन या शरीरकी चिकित्सा अलग-अलग नहीं। क्योंकि मन या शरीरके रोग अलग-अलग स्वतन्त्र नहीं, वरं पारस्परिक होते हैं। मनुष्य जैसा भोजन करता है, उससे उसके शरीरकी प्रकृति बनती है और तदनुकूल विचार-संस्कार बनते हैं, साथ ही विचार, संस्कार, आवेग, भावोंके बदलनेसे उनका असर शरीरकी आन्तरिक रचना और व्यवस्थापर भी होता है। अतएव शरीरके विभिन्न अङ्ग-रोगोंको परस्परसे पृथक् न समझकर पूर्णरूपसे परस्परके आश्रित जानकर पूरे शरीरकी चिकित्सा की जानी चाहिये।

केम्ब्रिज विश्वविद्यालयके प्रोफेसर सर वाल्टर लैंग्डन ब्राउन (Sir Walter Langdon Brown) ने अपना एक लेख १२ मार्च १९३६ को मेडिकल सोसायटी ऑफ इन्डिविजुअल साइकॉलाजीको पढ़कर सुनाया था, जिसका शीर्षक था "प्लेस ऑफ साइकॉलॉजी इन मेडिकल कैरिकुलम" (Place of Psychology in Medical curriculum:) उसमें वे लिखते हैं—"I speak in all sincerity when I state with all the emphasis of which I am capable that one of the greatest dangers besetting the honest practice of medicine at the present moment is the invasion of pseudo-scientific methods involving the piling up of irrelevant laboratory data, much of which the specialist who does it does not understand himself. It impresses the patient by an air of scientific accuracy which is quite illusory."

अर्थात् मुझमें जितनी शक्ति है उतने जोरसे ईमानदारीसे मैं कहता हूँ कि आजकल ईमानदारीसे इलाज करनेवाले डॉक्टर विशेषज्ञ लोग भी रोगी जनताके लिये सबसे अधिक खतरनाक हैं, जो प्रयोगशालामें खोज करके आँकड़े प्राप्त करके स्वयं कुछ

नहीं जान-समझ पाते और उनकी इस सूझपरसे रोगी प्रभावित हो जाते हैं; सब खोज और आँकड़े व्यर्थ और झूठे, काल्पनिक मात्र हैं। अर्थात् विशेषज्ञोंके अज्ञानका प्रमाण यहाँ मिल जाता है, जो शरीरके केवल एक अङ्गका अध्ययन और इलाज करनेकी दूकान खोलकर बैठे हुए हैं; उनसे रोगी मानवका कोई उपकार नहीं, वरं सबसे अधिक अपकार होता है।

इस सम्बन्धमें रोगीकी पूर्णतया जाँच करके सब पहलुओंसे चिकित्सा करनेके लिये लार्ड होर्डर (Lord Horder) ने किंग्स कालिज हास्पिटल मेडिकल स्कूलकी १२२ वीं बैठकमें अपना एक लेख पढ़कर सुनाया था जो ब्रिटिश मेडिकल जर्नल, ८ दिसम्बर १९५१ के अङ्कमें पृष्ठ १३५९ पर छपा था। उसमें लिखा है—

1. The doctor must know all about the mind as well as the body; he must know human nature as it is called, as not other person knows it.

2. More attention must be given to providing the basic elements of health, enough of right sort of food, warmth and shelter, access to sun and air, a satisfactory job and work, leisure and amenities connected with it.

वास्तविक आदर्शचिकित्सा और प्रचलित पाखण्ड-चिकित्साकी चर्चा करते हुए "मेडिकल वार्ल्ड" पत्रिकाके ५ जनवरी १९५१ के अङ्कमें एक ईमानवाले डॉक्टरने एक लेख "Parting of the Ways" शीर्षकसे लिखकर बड़े साहसका काम किया था। अन्धानुगामी वैज्ञानिकोंने कीटाणुवादके चक्रमें हरेक रोगके हरेक प्रकारके बहुतसे कीटाणुओंके नाम, रूप, गुण बताये हैं, तदनुसार सैकड़ों रोग बताये हैं। सच्चे वैज्ञानिकोंने इस मतका कठोर विरोध किया है, उनमेंसे यहाँ एक प्रमुख वैज्ञानिक डॉक्टर डब्लु मिचेल स्टीवन्स, एम० डी०, एफ० आर० सी० पी० के कुछ वाक्य उद्धृत करना बस होगा, जो मैटीरिया मेडिका और फारमाकोलॉजीके लेक्चरर, वेल्स यूनिवर्सिटीमें थे, अप्रैल १९३९ में इन्होंने लिखा थाः—

"Up-to-date the orthodox Medical Researchers have been working either *cul-de-sac* or in circles constantly receding further and further from the centre; they have been obsessed with microbes or viruses and have been responsible for the idea that disease may be conquered by injecting man's long suffering body with sera, vaccines, toxins or chemicals; their work has had a pernicious effect on medical education so that the student is encouraged to lean upon laboratory findings and to disregard experience and observation, their work has encouraged specialization just as if the human body were divisible into a large number of more or less watertight compartments and furthermore, the manufacturing chemists are inundating medical men and the general public with all kinds of preparations founded upon what they call "medical science".

शरीरके अङ्गोंको अलग-अलग टुकड़े-पुर्जे समझकर और कीटाणुओंकी खोजकर, ये अज्ञानी वैज्ञानिकलोग शरीरमें पशुओंके रक्त, मवाद और विष-रसायन इलाजके नामपर घोलते हैं और दवा बनानेवाले नदियोंकी बाढ़की तरह डॉक्टरों और जनताको उल्लू बनाकर अपनी बनायी हुई दुर्गन्धित विषाक्त गोलियाँ, इंजेक्शन, मिक्श्चर उँड़ेलते हैं। डॉक्टर और जनता दोनों ही इस बाढ़में अपने तन-मन-धन-सहित, अंधोंकी तरह दौड़-दौड़कर जूझते-डूबते जा रहे हैं, इसीका नाम है—वैज्ञानिक इलाज। यह इलाज नहीं, प्रयोग-मात्र है, जनताके जीवनसे विनाशकारी खिलवाड़।

इसके सहयोगी चल पड़े हैं, पशुओंपर चीर-फाड़के निर्दय प्रयोगसे टीका और इंजेक्शन बनानेवाले व्यापारी स्वार्थी वैज्ञानिक; जिनका विस्तृत धंधा सरकारी कानूनसे पुष्ट होकर सारी दुनियामें बूचड़खानोंमें चलता है; करोड़ों जीवोंका रक्तपात करता है, मानव-जीवनपर सब केवल प्रयोगमात्र है जो इलाजके नामपर प्रचलित है। It is all experimentation for research, wrongly called immunity and preventive or curative treatment. चूहों, भेड़ों, बंदरोंपर प्रयोग जैसे हो रहे हैं, वैसे ही मानवपर हो रहे हैं। चूहों, भेड़ों, बंदरों और मानवमें कोई अन्तर नहीं रह गया! (क्रमशः)

मांसाहारका तथा गोमांसका घृणित प्रचार

मनुष्य जिस प्रकारका भोजन करता है, उसी प्रकारकी उसके मन और बुद्धिकी रचना होती है। सात्त्विक भोजनसे सात्त्विक मन-बुद्धि और तामससे तामसिक मन-बुद्धि बनते हैं, उसीके अनुसार इच्छा या स्फुरणा होती हैं और उन्हींके अनुसार क्रिया होती है। इस समय भोजनका अनाचार-भ्रष्टाचार जिस तरह बढ़ रहा है, जिस तरह उसमें तामसिक वस्तुओंका प्रवेश हो रहा है, उसी तरह मन-बुद्धिका भी पतन हो रहा है और उसीके अनुसार जीवनके कर्म भी बिगड़ रहे हैं। आजके इस नैतिक पतनमें भोजनका तामस और अनाचारयुक्त होना भी एक प्रधान कारण है। किसीकी भी जूँठन खाना अनाचार है। पर इसका परहेज तो आजकल प्रायः उठ ही गया है। सदाचारकी दृष्टिसे न भी देखें तो स्वास्थ्यकी दृष्टिसे भी यह बहुत विचारणीय है। इस समयके कीटाणु सिद्धान्तके अनुसार एकका रोग जूँठन खानेसे दूसरेमें निश्चय ही आता है। होटलोंमें, पब्लिक भोजनालयोंमें, रेल-जहाज-वायुयानोंमें तो खुले आम जूठे बरतनोंमें जूठन खायी-खिलायी जाती ही है। विवाहोंमें, भोजोंमें और गृहस्थके घरोंमें भी इसका प्रचार बढ़ रहा है तथा इससे परहेज रखनेवालोंको असभ्य माना जाता है। इससे शरीर और मनके संक्रामक रोग बढ़ते हैं और मनुष्यका शारीरिक-मानसिक पतन होता है। उच्छिष्ट भोजनको गीतामें भगवान्ने भी तामस बतलाया है और तमोगुणकी वृद्धिसे अधःपतन होता है, यह भी स्पष्ट कहा है (अधो गच्छन्ति तामसाः)।

तामसिक भोजनमें प्याज-लहसुन आदिके निषेधका स्मृतियोंमें उल्लेख है, पर उसकी ओर तो आज कौन ध्यान देता है। इस समय तो अण्डे, मछली, मांस-मद्यका उन घरोंमें भी प्रवेश हो गया है, जिनके कुल-परम्परामें सदासे ही इनको घृणित माना जाता था और महान् अनर्थकारी समझकर इनका स्वाभाविक निषेध था। सरकार भी साहित्यसे, बूचड़खानोंके विस्तारसे और मछली-सूअर-मुर्गी-उद्योगोंके नामपर योजनाएँ बना-बनाकर मांसाहारके घृणित और पतनकारी प्रचार-प्रसारमें जोरोंसे लगी है। अण्डे और मछलीतकको निरामिष बताया जाता है, और लाभ बता-बताकर अण्डोंका प्रचार किया जाता है। पशुओंके अङ्गोंसे दवा बनानेके कारखाने तो बहुत हो गये हैं और वे उत्तरोत्तर बढ़ ही रहे हैं। इसके लिये भी सरकारी योजना है। यह परम दुर्भाग्य है।

मांस खानेवाले भी हिंदू गोमांससे तो बड़ी घृणा करते थे; पर आजकल वह घृणा भी निकलती जा रही है। विदेशोंमें यातायात बढ़ जानेसे, दुष्ट-सम्पर्कसे तथा धार्मिक बुद्धिके सतत ह्राससे स्वाभाविक ही यह हो रहा है। जहाँ मांस-गोमांस पकाये जाते हैं, वहीं उन्हीं बरतनोंमें निरामिष भोजन करनेवाले हिंदुओंके लिये अन्न पकाया जाता है और निरामिषभोजी भाई-बहिन बड़े चावसे उन्हीं बरतनोंमें उसे खाते हैं। अभी समाचार मिला है कि विपुल धनराशि खर्च करके सरकारके द्वारा बनाये हुए दिल्लीके प्रसिद्ध 'अशोक होटल' में, जिसमें बड़ी शानसे बहुत ऊँचे घरानेके सम्भ्रान्त निरामिषाहारी हिंदू (सनातन धर्मावलम्बी) भी ठहरते हैं, गोमांसका व्यवहार किया जाता है। कलकत्तेसे प्रकाशित स्टेट्समैनके पिछले ३१ दिसम्बरके अङ्कमें 'अशोक होटल'का एक टेंडर विज्ञापन प्रकाशित हुआ है, जिसमें होटलके लिये गोमांस, गायकी जीभ, कटा हुआ गायका अंदरका भाग, गायका दिमाग और जिगर, बैलकी पूँछ और गुर्दा आदिकी सन् १९६१-६२ के लिये आवश्यकता बतलायी गयी है। गोमांस आदिके साथ ही जीवित कबूतर, बटेर, तीतर, मुर्गा-मुर्गी, सूअर, अण्डे, तरह-तरहकी मछलियाँ

और भेड़ आदिकी आवश्यकता बतलाकर उन सबके टेंडर माँगे गये हैं। यह एक विशाल सरकारी होटलका स्वरूप है। अहिंसाके सिद्धान्तपर स्थापित तथा अपनेको धर्म-निरपेक्ष बतलानेवाली सरकार किस प्रकारसे धर्मपर आघात करके घोर हिंसाको प्रोत्साहन दे रही है और परम अहिंसक 'अशोक'के नामपर स्थापित होटलके द्वारा किस प्रकार हिंसाका प्रचार और गोमांससे घृणा करनेवाले तथा हिंसामात्रको महापाप माननेवाले लोगोंके धर्मपर आक्रमण किया जा रहा है, इसका यह एक उदाहरण है। अहिंसा तथा धर्मसे प्रेम करनेवाले लोगोंको घोर विरोध करके इस अनाचारका प्रसार रोकना चाहिये। होटलके अधिकारियोंको बाध्य कर देना चाहिये कि वे इस पापको न करें। न मानें तो होटलका बहिष्कार कर देना चाहिये। जहाँतक हो सके, तुरंत ही पूर्ण निश्चय करके मांसाहारसे बचना-बचाना चाहिये। नहीं तो त्यागी, तपस्वी, सदाचारी, सात्त्विकाहारी ऋषि-मुनियोंका यह पवित्र देश क्रूर पिशाचोंकी क्रीड़ाभूमि बन जायगा और यहाँ पैशाचिक ताण्डव होने लगेगा!

पतनकारी सिनेमा और गंदे पोस्टरोंका घोर विरोध परमावश्यक

आज 'कर्तव्य'के स्थानपर 'अधिकार' और 'त्याग'के स्थानपर 'अर्थ' का पूर्णाधिकार हो गया है। यही इस युगकी देन है। इसीसे आजके बुद्धिमान् और शिक्षित कहलानेवाले मानवसे लेकर श्रमजीवी मजूरतक धनी-निर्धन सभी प्रत्येक विषयपर 'अधिकार' तथा 'अर्थ'के दृष्टिकोणसे ही सोचते-विचारते हैं। दूसरेका कर्तव्य सोचते हैं और अपने अधिकारपर अड़े रहते हैं। अर्थ तो सभी जगह प्रधान आसनपर आरूढ़ है। इसीसे आज अखण्ड भारतकी अखण्डता नष्ट हो रही है और जगह-जगह भाषा तथा प्रान्तके नामपर काट-छाँट और उपद्रव हो रहे हैं और परस्परके वैमनस्य तथा अविश्वास-से जन-जीवन दुखी हो रहा है। वर्तमान पाकिस्तान, नये पाकिस्तान-ईसाईस्तानोंके लिये गुप्त योजना और प्रचार, पंजाबके दो खण्ड करनेकी बात, आसाममें स्वतन्त्र पहाड़ी राज्यका प्रस्ताव, बेरुबाड़ीका प्रदान, एक प्रान्तके स्थान दूसरे प्रान्तको देने-लेनेकी योजना आदि इसके प्रत्यक्ष प्रमाण हैं। हम मान रहे हैं—प्रगति हो रही है पर वस्तुतः हो रहा है—घोर पतन! इसीसे अशान्ति, द्वेष, दम्भ तथा दुःखके बादल उमड़े आ रहे हैं।

इसी पतनोन्मुखी दृष्टिसे पैसेके लिये खान पानकी चीजोंमें मिलावट, नकली दवाइयोंका निर्माण, घूसखोरी, नैतिकतापर खुला आघात करनेवाले पतनकारी साहित्यका प्रकाशन, गंदे सिनेमाओंका घोर प्रचार, नर-नारियोंके मनोंमें सहज ही विकार उत्पन्न करनेवाले सिनेमाके पात्र-पात्रियोंके चित्रोंका प्रकाशन और गंदे पोस्टर आदिका विस्तार हो रहा है और इन साधनोंके द्वारा प्रकारान्तरसे समाजमें दुराचारोंका प्रबल प्रसार हो रहा है। घृणा तो निकल ही गयी है। दुराचारमें गौरव-बुद्धि हो गयी है!

सिनेमाके द्वारा समाजमें नर-नारियोंका जिस अनुपातसे घोर पतन हो रहा है, वह यों ही होता रहा तो सदाचार और नैतिकता नामकी कोई वस्तु ही नहीं रह जायगी। ऐसे-ऐसे दृश्य और गाने दिखाये-सुनाये जाते हैं, जिनकी चर्चा भी माँ-बहिन-बेटीके सामने पुत्र-भाई-पिता नहीं कर सकते, फिर माँ-बहिन-बेटी तो करती ही कैसे? पर सिनेमामें बड़े चावसे माँ-बहिन-बेटियोंको तथा कोमलमति बालक-बालिकाओंको साथ ले जाकर स्वयं पुत्र-पिता-भाई इन गंदे दृश्योंको देखते और गंदे गाने सुनते हैं। पहले तो उनके सिर नीचे रहते हैं, पर धीरे-धीरे संकोच निकल जाता है और मानसिक पतनका जीवनमें पूर्ण प्रकाश हो जाता है। यही हो रहा है। सिनेमामें नाचने-गाने-वाली तरुणियोंके चित्र छापकर और बड़े-बड़े पोस्टरोंमें उनके शरीरों और चेष्टाओंको दिखाकर लोगोंका मन आकर्षित किया जाता है। अभिनय करनेवाली युवतियोंके चित्र राष्ट्रपति, प्रधान मन्त्री आदिके साथ छपते हैं, प्रचुर

धनराशि उन्हें मिलती है और उनके दर्शनार्थ भले-भले लोगोंकी भीड़ उमड़ी पड़ती है। यह सब देखकर अच्छे-अच्छे घरानोंकी लड़कियोंके मनमें भी ऐसी ही बननेका प्रलोभन उत्पन्न हो जाता है और कई युवतियाँ तो इसीलिये घरोंसे भागकर बड़ी विपत्तिका सामना करनेको बाध्य होती हैं। पता नहीं, इनके प्रचारमें कौन-सा लाभ सोचा जाता है, हमारी समझसे तो कुछ लोगोंमें धनवृद्धि, जनताका धन-नाश तथा अनाचार-व्यभिचारकी प्रवृत्तिके सिवा और कोई भी लाभ इससे नहीं होता। 'मनोरञ्जन तथा कला' तो धोखा देनेकी चीज है। जैसे शराबके गुण बताकर शराबके व्यसनको दृढ़ कर दिया जाता है, वैसे ही वर्तमान सिनेमाओंके ये नाम तो इस दुर्व्यसनकी वृद्धिके लिये ही रक्खे गये मालूम होते हैं।

संत विनोबाजीने इधर कुछ समयसे 'गंदे पोस्टर हटाओ' आन्दोलन चलाया है। यह बड़ा ही लोक-कल्याणकारी तथा परम आवश्यक है। खुले आम सड़कों-बाजारोंमें दीवालोंपर लगाकर और मोटरों-गाड़ियोंमें रखकर—बाजे-गाजेके साथ जुलूस निकालकर ये पोस्टर दिखाये जाते हैं और भले लोगोंके मनोंमें भी विकार पैदा किया जाता है।

श्रीविनोबाजीके इस पवित्र आन्दोलनमें सबको साथ देना चाहिये तथा इन गंदे पोस्टरोंका साहसके साथ, युक्तिपूर्ण पद्धतिसे घोर विरोध करके जनताको जगाना तथा सरकारको बाध्य कर देना चाहिये कि वह कानून बनाकर ऐसे पोस्टरोंको सर्वथा रोक दे। नैतिक चरित्रकी उच्चता एवं पवित्रताके द्वारा देशका कल्याण चाहनेवाले प्रत्येक नर-नारीको इस पवित्र कार्यमें सहयोग देना चाहिये और जहाँतक बने सिनेमा न देखनेकी प्रवृत्तिको बढ़ाना चाहिये, जिसके लिये ये पाप-प्रसारक पोस्टर लगाये जाते हैं!

अभय

[कहानी]

(लेखक—श्री'चक्र')

गङ्गोत्तरीसे गङ्गाजी नहीं निकली हैं, यह बात वे सब लोग जानते हैं जो वहाँ गये हैं अथवा जानेवालोंसे मिले हैं, उनके विवरण पढ़े हैं। गङ्गाजी गोमुखसे प्रकट हुई हैं, वैसे वे निकली तो हैं नारायणके चरणोंसे—भौतिकरूपमें भी उनका हिमस्रोत (ग्लेशियर) नारायण पर्वतके चरणोंसे चलकर शिवलिङ्ग शिखरके ऊपरसे होता गोमुखतक आया है। गङ्गोत्तरीमें तो गङ्गाजीकी मूर्ति है।

गोमुख गङ्गोत्तरीसे गत वर्ष १८ मील दूर था। कुछ वर्ष पूर्व यह दूरी १२ मील थी। हिमालयका हिम पिघल रहा है, इसलिये गोमुख पीछे हट रहा है। हो सकता है कि कुछ शताब्दी पूर्व गोमुख गङ्गोत्तरीमें रहा हो। गङ्गाजी तब गङ्गोत्तरीमें हिमस्रोतसे प्रकट होती हों।

'यह ऊनी चदर मैंने रीछसे झपट ली है।' यह बात एक साधुने बतलायी। वे गङ्गोत्तरीसे चार छः मील ऊपर गोमुखकी ओर रहते हैं। गोल छोटे-बड़े पत्थरोंपर लाठीके सहारे कूदते-उछलते वहाँतक जाना पड़ता है। गोमुखके लिये कोई मार्ग नहीं है। गङ्गाजीके किनारे-किनारे पत्थरोंपर होकर ही जाना पड़ता है।

उधर रीछ बहुत हैं वनमें और रीछोंसे भी भयंकर है शीत। पत्थरोंपरसे पैर फिसले तो केवल सिर फूटेगा या शरीर गङ्गार्पित हो जायगा, कोई कह नहीं सकता। दिन चढ़ते ही शिखरोंसे मनों भारी हिमशिलाएँ तोपसे छूटे गोलोंके समान गड़गड़ाती गिरने लगती हैं।

इतना सब है; किंतु प्रतिवर्ष दस-पाँच साहसी यात्री गङ्गोत्तरीसे गोमुख हो आते हैं। इच्छा रहते हुए भी मैं नहीं जा सका। मेरे एक साथीको गङ्गोत्तरीमें न्यूमोनिया हो गया। उनका ज्वर दूर होनेतक मुझे वहीं रुकना पड़ा एक सप्ताह।

उसी सप्ताह युवकोंका एक समुदाय गोमुख जाकर

लौटा। उन्होंने बताया कि मार्गमें ऊपर एक साधु कुटी बनाकर रहते हैं। लौटते समय वे रात्रि-विश्राम वहीं करके आये हैं।

रीछने किसी यात्रीका ऊनी चद्दर छीन लिया होगा या हिमके आखेट किसी यात्रीका चद्दर उसे पड़ा मिल गया होगा। ऐसे वस्त्रको रीछ वृक्षोंकी डालियोंमें लपेटकर अपने लिये आवास बना लेता है। साधु लकड़ी एकत्र करने गये तो वृक्षपर लिपटी ऊनी चद्दर देखकर चढ़ गये और उतार लाये। रीछकी अनुपस्थितिमें ही वे चद्दर ला सके थे।

किंतु उन साधुसे भी अधिक अद्भुत साहसी हैं हमारे मार्ग-दर्शक। वे इधरसे सीधे दो बार बद्रीनाथ गये हैं। इस वर्णनने मुझे आकृष्ट किया। मैं गङ्गोत्तरीमें उनसे परिचित हो चुका था। अतएव उनसे ही सब विवरण सुननेका मैंने निश्चय किया।

× × × ×

'द्वितीयाद्वै भयं भवति।' संन्यासीके लिये यह श्रुति उद्धृत कर देना सहज स्वाभाविक है; किंतु उनके-जैसा सचमुच निर्भय संन्यासी जब यह श्रुति उद्धृत करता है तो श्रुतिका अर्थ सहज बोध-गम्य हो जाता है।

वे तरुण हैं, सुशिक्षित हैं, विनम्र हैं। सुदृढ़ शरीर, साँवला रंग, बड़े-बड़े नेत्र। पहिले उनका आश्रम था कश्मीरके उस भागमें जो अब पाकिस्तानके हाथमें है।

'नारायण, उस समय मनुष्य धर्मोन्मादमें रीछसे अधिक भयंकर हो गया था।' उन्होंने बताया 'मुझे अकेले पैदल आना पड़ा। मैंने भारतीय सीमामें पहुँचनेतक जो कुछ देखा——छुरे रक्त-सने और उन्मादमें दौड़ती-चिल्लाती हत्याके लिये आतुर भीड़। उस समय मनुष्यमें पता नहीं कहाँके दानव घुस गये थे।'

'आपको किसीने कुछ कहा नहीं?' मैंने पूछा।

'तुम जानते ही हो कि संन्यासीके चोटी नहीं होती।' वे खुलकर हँसे—'मेरे कपड़े मैले हो रहे थे। दाढ़ी बढ़ रही थी। मेरी ओर किसीने आँख उठाकर देखना आवश्यक नहीं माना।'

'आपको भय नहीं लगा एकाकी उन्मत्त लोगोंके बीचमेंसे निकलनेमें?'

'भय तो दूसरेसे लगता है।' उन्होंने समझाया—'वे अपने स्वरूप ही तो थे। अपनेसे भिन्न कोई हो तो भय लगे। देहके लिये ही लोगोंको भय लगता है; किंतु देह तो मैं नहीं हूँ और देह मैं चाहूँ तो क्या सदा बना रहेगा? दो बार तो देह नष्ट नहीं होता। वे तो फिर भी मनुष्य थे—पर्वतोंसे लुढ़कती हिमशिलाएँ····'

'आप दो बार गोमुख होकर सीधे बद्रीनाथ गये हैं?' मैंने उन्हें बीचमें ही रोक दिया। क्योंकि मैं उनसे मिला ही था यह यात्रा-वर्णन जानने। बात भिन्न प्रसंगपर जा लगी थी।

'एक बार—पहिली बार अपने कुतूहलवश और दूसरी बार कुछ अन्वेषकोंके साथ उनके आग्रहके कारण।' उन्होंने बताया—'मार्ग इधर गोमुखसे ऊपरतक और उधर स्वर्गारोहणसे बद्रीनाथतक कठिन है। इतने विकट मार्गकी यात्रा दोनों ओरसे यात्री प्रायः करते हैं। जहाँतक वे पहुँचते हैं, वहाँसे मील-दो मील आगे बढ़कर मार्ग सरल हो जाता है। ऊपर सपाट पठार है। सीधे गोमुखसे बद्रीनाथके मार्गमें स्वर्गारोहणके नीचे दूसरे दिन ही मैं पहुँच गया था।'

जिस मार्गमें कुछ गज चलना भारी हो जाता है, उसमें मील-दो-मीलकी चर्चा वे ऐसे कर रहे थे, जैसे मैदानके मील-दो-मील हों।

'शिखरोंसे हिमशिलाएँ गिरती ही रहती हैं। कच्चे पर्वत भी हैं, जिनपर पेटके बल सरककर चढ़ना पड़ता है। छोटे-बड़े पत्थरोंपर कूदते चलनेका तो मार्ग ही है। कहीं-कहीं रीछ भी मिल जाते हैं।' वे बड़े आनन्दसे सुना रहे थे——'यह भगवती पार्वतीके पिताका गृह है। यहाँ

तो शिला, हिम, जल और वन्यपशु। किंतु दिव्य धरा है। यहाँ कहीं गिरकर, हिमखण्डसे दबकर या रीछके हाथों देह नष्ट भी हो जाय—हिमालयकी गोदमें मृत्यु सौभाग्यसे ही मिलती है। हस्तिनापुरका राजसदन छोड़कर धर्मराज भाइयोंके साथ यहीं मरणका वरण करने आये थे।'

'मरणका वरण' किसी कमरेमें अग्निके समीप ऊनी कपड़े ओढ़कर, कम्बलमें लिपटे बैठे मेरे समान इस बातको सुननेमें मनको उत्सुकता हो सकती है; किंतु सचमुच गिरती शिलाओंके मध्य चट्टानोंपर कूदते-उछलते जानेवाले यात्री—मैंने एक सिहरन अनुभव की इस स्मरणसे।

× × ×

भयं द्वितीयाभिनिवेशतः स्या-
दीशादपेतस्य विपर्ययोऽस्मृतिः।

उन्होंने कदाचित् मुझे श्रीमद्भागवतका पाठ करते किसी दिन देख लिया था। हो सकता है कि वे स्वयं भी भागवतका पाठ करते हों; क्योंकि मैं उनकी कुटियामें छोटी चौकीपर त्रिभङ्ग-सुन्दर, मयूरमुकुटीका चित्र देख आया हूँ।

'मनुष्य परमात्माको छोड़कर दूर हट गया, उसने अपना मुख ईश्वरकी ओरसे दूसरी ओर कर लिया, अतः उसकी स्मृति उलटी हो गयी। उसने अपनेसे सर्वथा भिन्नको अपना स्वरूप मान लिया और इसीलिये सर्वत्र वह डरने लगा।' उन्होंने गम्भीरतापूर्वक मेरी ओर देखा।

'स्मृति उलटी हो गयी?' मैंने पूछा।

'तत्त्वज्ञानकी बात छोड़ भी दें तो भी इस देहमें तुम्हारा क्या है? इसके परमाणु क्या प्रतिपल बाहर नहीं जा रहे हैं? यह कोई बात है कि पेटमें रही विष्ठा मैं और बाहर निकला अपवित्र। इस शरीरके अतिरिक्त और किसीको कोई मार सकता है?'

'नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः।'

उनके बिना कहे ही मुझे गीताके कई श्लोक स्मरण हो आये।

'द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया' जीव ईश्वरका सखा है, इसमें भी कोई संदेह है क्या?' वे बोलते जा रहे थे—'कोई ऐसा भी स्थान है जहाँ ईश्वर नहीं है? ईश्वर सर्वज्ञ है, सर्वशक्तिमान् है और सर्वत्र है। तब उसके सखाके लिये कहीं किसी परिस्थितिमें कोई आपत्ति किस गुफासे निकलेगी?'

मैं क्या उत्तर देता? कोई भी क्या उत्तर दे सकता है? वे ठीक नहीं कह रहे थे, यह कैसे कहा जा सकता है?

'मूर्खताकी बात—शिष्ट शब्दमें अज्ञान कहो।' वे अब उठ रहे थे कहीं जानेके लिये। मैं भी उठ खड़ा हुआ। खड़े-खड़े उन्होंने अपनी बातका उपसंहार किया—'परमात्माके सम्बन्धमें हम सोचते नहीं, अपने सम्बन्धमें भी नहीं सोचते, इसीसे यह मूर्खता सिरपर सवार है। भगवान्से दूर रहनेके कारण यह उलटी बुद्धि हो गयी है कि जिसमें अपना कुछ नहीं है, उस देहको अपना मान लिया है और इस देहमें अभिनिवेशके कारण ही सारे भय हैं।'

मैंने उन्हें प्रणाम किया और लौट आया। अब भी मुझे उनके वे शब्द स्मरण आते हैं—'देहके सम्बन्धमें, अपने सम्बन्धमें, परमात्माके सम्बन्धमें विचार करो। भय तो मूर्खता है। ठीक-ठीक देहके भी तत्त्वपर विचार करोगे, प्रारब्धको भी समझ लोगे तो भय भाग जायगा सदा-सर्वदाके लिये।'

'तत्त्वका ठीक विचार करनेसे भय भाग जाता है।' बड़ा सुन्दर सूत्र है और मेरे मानसनेत्रोंके सम्मुख हैं वे अभय पुरुष।

गृहस्थ-जीवनमें शान्तिका मार्ग

(लेखक—श्रीधर्मभानुसुकुमारजी एम्० ए०, शास्त्री, साहित्यरत्न)

प्रत्येक जीव शान्तिप्रिय है। हृदयके मन्दिरमें सब कोई शान्तिकी ज्योति जलाये रखनेका अभिलाषी है। अकेला मानव ही यह नहीं चाहता, अपितु हरेक प्राणधारी समुत्सुक है इसी सुख और शान्तिकी मनःकामनाको पूर्ण करनेके लिये। जिस वस्तुकी जब इतनी व्यापक माँग हो जाती है, तब वह यदि महँगी हो जाय और उसका प्राप्त करना दुष्कर बन जाय तो इसमें कोई आश्चर्यकी बात नहीं। शान्तिकी देवी एकाकिनी करे तो क्या करे। किस-किसका घर वह पूरा करे। दसों दिशाओंमें, चतुर्दश भुवनोंमें उसीकी याचना हो रही है। देव हों अथवा दानव, जलचर हों या स्थलचर, खेचर हों वे या हों नागलोकके निवासी, जिससे पूछा जाय कि 'भई, तुम्हें क्या वस्तु अभीष्ट है ?' तत्काल प्रत्युत्तर आयेगा—'शान्ति', हमें शान्ति चाहिये।

इस चराचर विश्वमें जब हम दृष्टिपात करते हैं, तब हमें सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड तीन प्रकारकी सृष्टियोंसे आप्लावित दिखायी देता है। एक वर्गमें तो वे जीवधारी आते हैं, जिन्हें हम 'उल्टी सृष्टि'के नामसे पुकारा करते हैं। जितने भी ये वृक्ष हैं, पौधे हैं, लताएँ हैं, सभी 'उल्टी सृष्टि'के प्राणी हैं। इनका सिर नीचे पृथ्वीमें धँसा पड़ा है और इनका कबन्ध, जिसे अन्य अङ्ग-प्रत्यङ्ग कह सकते हैं, ऊपरकी ओर विकसित होते हैं। तभी मानवको **'ऊर्ध्वमूलमधःशाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम्'** ऐसा प्रतिपादित किया गया है।

मानव और स्थावर सृष्टिके अन्तरालमें एक और वर्ग है, जिसमें पशु तथा पक्षियोंका समावेश होता है। जहाँ इनसे पूर्वोत्पन्न सृष्टि वनस्पतिवर्गकी अचर है। वहाँ यह मध्यम सृष्टि पशु-पक्षियोंकी वैसी नहीं है। वर्षा हो, ग्रीष्म हो, शिशिर हो अथवा वसन्त हो, शरद् हो या हो हेमन्त—ये वराक वनस्पति-संसारके प्राणी ठहरे हैं, सो ठहरे हैं। यदि ये प्यासे हैं तो, भूखसे व्याकुल हैं तो, महाशीतसे ठिठुर रहे हैं तो और यदि इन्हें निदाघकाल आकर प्रचण्ड रवि रश्मियोंसे विह्वल करने लगता है तो—ये मूक हैं, विवश हैं, एक ही स्थानपर स्थित हैं। किसी जलाशयके संनिकट होकर जल नहीं पी सकते। सघन मेघमालासे अनवरत वारिधाराएँ इन्हें यदि उद्विग्न कर रही हैं तो ये तपस्वी शान्त हैं—कोई झुलसा दे तो इन्हें इन्कार नहीं और कोई इन्हें गरमा दे तो कुछ भी न करेंगे। परंतु महाविस्मय होता है इनकी विशाल क्षमाशीलताको देखकर कि ये वनस्पतियाँ बदलेमें अपना सर्वस्व उन्हीं जीवधारियोंको दे देनेमें सदा तत्पर रहती हैं, जिन्होंने समय-समयपर जब-जब भी उन्हें अवसर लगा, कभी इनकी लकड़ियाँ काट लीं, कभी हरी-भरी लहलहाती शाखाएँ झकझोर लीं, कभी मधुर, पके, रसभरे फलोंसे अपनी झोलियाँ भर लीं—ये नीरव, निश्शब्द, उदारमना होकर तनिक कुछ नहीं उचरते।

पशुओंको अपनी शीतल छायाका सुख प्रदान करते हैं। मनुष्योंको छायाके अतिरिक्त फल-फूल-पत्ते सब कुछ सौंप देनेको उद्यत रहते हैं। कई पक्षी जैसे तोताकठफोड़ा आदि इनके प्रकाण्डोंमें बिलें बनाकर उनमें निवास करने लगते हैं। इतर पक्षी स्कन्धोंपर, घनी शाखाओंपर नीड़ बना लेते हैं। सभीका स्वागत करना इनकी प्रकृतिदत्त विशेषता है। अस्तु,

अब हम आते हैं 'आड़ी सृष्टिमें'। पशु-पक्षियों, कीट-कृमियोंकी सृष्टिका समावेश इस दूसरे वर्गमें हो जाता है। ये समस्त प्राणधारी चर हैं—सरक सकते हैं। इनमें गतिशीलता पायी जाती है। 'आड़ी' शब्दसे हमारा अभिप्राय इन जीवोंकी 'रीढ़की हड्डी' 'मेरुदण्ड' से है। अर्थात् इनका मेरुदण्ड वृक्षोंके सदृश विपर्यस्त नहीं, प्रत्युत किसी-न-किसी दिशाकी ओर होता है। नन्ही-सी यूक अथवा लिक्षासे लेकर दीर्घकाय मत्त गजराजतक, अतिक्षुद्र किसी कीटसे लेकर पक्षिराज गरुड़पर्यन्त किसी भी जन्तुकी कायाके आकार-प्रकारका समवलोकन करें, प्रत्येकका मेरु 'आड़ा' होगा, पादपोंके समान उल्टा नहीं। यह हुई 'आड़ी सृष्टि'। इस वर्गमें समुत्पन्न समस्त जीवोंका शिरोभाग दिशोन्मुख मिलेगा—न सीधा ऊपर द्युलोककी तरफ उठा हुआ और न अधोमुख।

तीसरी श्रेणी है हमारी—हम मानवोंकी। हमारी रचना पूर्वोक्त दोनों प्रकारके देहधारियोंसे विभिन्न दृष्टिगोचर होती है। हम मानवोंका गढ़न सरल, सीधा, गगनमण्डलाभिमुख। मनुष्यका कलेवर और उसका उत्तमाङ्ग सूर्याभिमुख—ऊपर नभोमण्डलकी तरफ। विद्युत्के स्तम्भके सदृश मानो अपने मस्तिष्कमें रवि-शशिकी विमल प्रभाको भरता हुआ। मानवका मूल ऊर्ध्वदिशामें है और शेष भाग नीचेकी ओर परिवर्धन करता हुआ। इसे शास्त्रकारोंने 'सीधी सृष्टि'का नाम दिया है।

अग्निर्मूर्धा चक्षुषी चन्द्रसूर्यौ
दिशः श्रोत्रे वाग्विवृताश्च वेदाः ।
वायुः प्राणो हृदयं विश्वमस्य
पद्भ्यां पृथ्वी ह्येष सर्वभूतान्तरात्मा ॥
(उपनिषद्)

'इस विराट् सर्वव्यापी आत्माका मस्तक अग्नि है, चाँद और सूरज लोचन हैं, दिशाएँ ही इसके कान हैं, सम्पूर्ण निगमागम मानो इसकी वाणीसे समुद्भुत हो रहे हैं, वायु-मण्डल इसका प्राणस्थानीय है, समग्र ब्रह्माण्ड हृदय है और यह वसुन्धरा इस आत्माके चरण-युगल हैं।' ऐसा दिव्याकार है यह मानवकायाका लघु, उन्नत मस्तक, भुजाएँ दायें-बायें, नीचे हैं इसके पाँव। जबतक मानव चैतन्य-दशामें रहता है, इसका सिर सीधा ऊपरकी ओर स्थिर होता है। तनिक भी इसके मस्तिष्कमें स्वप्नका विचार उत्पन्न हुआ, तत्काल यह सिर किसी-न-किसी दिशाकी तरफ लुढ़क जायेगा। उस समय सिर सीधा तना हुआ नहीं रहता। वहाँ तमोगुणका अधिकार हो जाता है। निद्राकालमें हम सदा ही लेट जाते हैं, सीधे खड़े नहीं रह पाते। ब्रह्माण्डदेशके साथ हमारे पिण्डदेशका सीधा, गहरा तथा अनुरूप सम्बन्ध है।

यहाँतक हमने चर्चा की मानवशरीरके सर्वोत्कृष्ट गठनकी और विश्वके प्राणियोंमें सर्वश्रेष्ठ रचे जानेकी।

मानव सृष्टिकी सर्वोत्तमताका प्रतिपादन करते हुए हमें यह भी देखना है कि महाप्रलयके अनन्तर यही प्राणी धरातलपर सबके पीछे अवतीर्ण हुआ था। समस्त भोग-योनियोंका सृजन इसके आगमनसे पूर्व हो चुका था। सबसे प्रथम तो प्राण-धारियोंमें उत्पन्न हुए थे स्थावर-जगत्के जीव—वनस्पतिवर्ग। यही तो था उपभोग्य तत्त्व पशु-पक्षियोंके लिये। तदुपरान्त आये 'आड़ी सृष्टि' के जीव। ये दोनों प्रकारके जीव-जन्तु भोग-योनियोंके अन्तर्गत माने जाते हैं। इन्हें अपने पूर्वजन्मोंमें किये हुए कर्मोंका फल भोगना होता है—तभी जन्म लेते हैं। कोई स्थावर बनकर और कोई जँगम। जलचर, स्थलचर और नभश्चर कोई भी हों, हैं सब-के-सब भोग्य—मानवकी सेवा करनेके लिये सम्भूत। इन सभीके यथास्थान, यथोपयोग और यथाकर्म सज जानेपर अवतीर्ण होता है यह मानुषाकार प्राणी। मानव उभययोनिका प्राणी है—भोगयोनिमें भी और कर्मयोनिका भी। समूचा विश्व इसके समक्ष बिखरा पड़ा है केवल इसीकी परिचर्याके लिये। मानव जब उत्पन्न होता है, तब इसके अन्तःकरणमें अनेक प्रकारकी इच्छाओंका ताना-बाना तना पड़ा होता है। वे उसकी प्रथम सुषुप्त और पुनः जाग्रत् होती हुई वासनाएँ चाहती हैं पूर्ति। उनकी पूर्तिके हेतु ही यह अशेष प्रकृति सर्वदा सर्वथा संनद्ध रहती है। मनुष्यकी इच्छा होती है। क्षुधा-निवारण करनेकी—फलोंसे लदे हुए पेड़ तुरंत नतमस्तक-से हुए अपनी-अपनी शाखाओंको समवनत किये सामने आ उपस्थित होते हैं। मानो सहर्ष निवेदन करते हैं—'ऐ मानव! स्वीकार कर ले हमें'। ये फल हमें तो भक्षण करने नहीं। या तू खायेगा, नहीं तो पशु-पक्षी ही नोच ले जायँगे। आवश्यकता हुई तृषा बुझानेकी। गिरि-कन्दराओंसे अनन्त निर्झर और निर्झरिणियाँ नीचेकी ओर द्रुतगतिसे भागती हुई चली आती हैं। कहीं यह मानव प्यासा न रह जाये। नदी-नाले अहर्निश इसीकी सेवामें तत्पर हैं। भूमिको सींच-सींचकर अन्न उगलवा लेते हैं, फलोंके ढेर-के-ढेर प्रस्तुत करा देते हैं। यह मानव परितृप्त रहे। मनुष्यको देश-विदेशमें परिभ्रमण करनेकी आकाङ्क्षा भी उत्पन्न हुई। मरुभूमि है। मीलों बालू बिछी है। आकाशमें भगवान् मरीचिमाली प्रखर किरणोंसे उसे संतप्त कर रहे हैं। दिशाएँ अग्नि बरसा रही हैं। मानव क्या देखता है कि नयनोंके सम्मुख खड़ा है एक अटपटा प्राणी—लंबा-चौड़ा जिसे उष्ट्र कहते हैं। वह ऊँट हाथ बाँधे विनय करता है इस मनुष्यसे। आपको रेगिस्तानसे पार उतारनेके लिये मुझे भगवान्ने नियुक्त किया है। आप सहर्ष मुझपर सवार हो जाइये, मैं आपको त्वरितगतिसे ले चलूँगा। मानव उसकी आकृति देखकर स्तब्ध-सा रह जाता है। अरे! कैसा बेडौल जानवर है यह—परंतु कितना ऊँचा है धरातलसे। वह सरल जीव भी अपने उदरमें पर्याप्त जलराशि भरकर प्रसन्न मुद्रामें आगे बढ़ जाता है और इस मनुष्य नामके जीवको स्वकीय गन्तव्य स्थानपर पहुँचा देता है। पर्वतोंपर चढ़ना हो तो खच्चर खड़े हैं, समरभूमिमें शत्रुसेनाओंसे टकराना हो तो वेगवान् अश्व ठहरे हैं, मदमत्त नागराज हैं। भार लादनेके लिये बैल, गर्दभ अपने-आपको समर्पित किये हुए यत्र-तत्र मिल जाते हैं।

इसी मनुष्यके निवासस्थानोंकी परिशुद्धिके लिये कुक्कुट हैं, शूकर हैं, जो सब कूड़ा-कर्कट दूर करनेमें कुशल होते हुए सब जगहको स्वच्छ कर देते हैं। अन्तरिक्षमें विचरण करनेवाले कोटि-कोटि असंख्य जीवोंको अपना ग्रास बनाते हुए चमगीदड़, अन्य सहस्रों पक्षी वायुमण्डलको हमारे श्वास लेनेके योग्य बना देते हैं। भाव यह कि ये उलटी और आड़ी सृष्टियोंके प्राणी सर्वतोभावेन मनुष्यसमुदायकी परिचर्यामें आठों

पहर संलग्न रहते हैं। ऐसा है पुण्यात्मा, सौभाग्यशील, मानव-देहधारी यह मनुष्य, जो कर्मयोनिमें जन्मा है। कर्मयोगी बननेका इसे एकाङ्गी अधिकार मिला हुआ है। यह यदि उपभोक्ता है तो इसका ही उपभोग्य है यह इतर चराचर विश्व।

मानव-शरीरमें ही आकर यह आत्मा अपनेपर आवरण डाले हुए पाँचों कोशोंका विभेदन करता हुआ निर्वाणपदको प्राप्त करता है। उत्तरोत्तर एक-दूसरेमें लिपटे हुए अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय तथा आनन्दमय कोशोंका अपनी ऋतम्भरा प्रज्ञाद्वारा सम्यग्ज्ञान पाकर यह आत्मा निज स्वरूपमें स्थित हो जाता है। नरसे नारायण ही तो बन जानेकी यह बिरिया है। इस स्वर्णावसरको प्राप्त करके भी आज यह मानव अशान्त है चिन्तासमाकुल है।

इस 'वीरभोग्या वसुन्धरा' पर अरबों जीव इस मानवके साथ जीवनयात्राको चला रहे हैं। निरुद्देश्य वे भी नहीं। अपने प्राक्तन जन्मकृत कर्मोंके फल उन्हें विवश होकर भोगने हैं। कीट-पतंग, खग-मृग-हरेकके पीछे कर्म-शृङ्खला जुड़ी हुई है। उस कर्मोंकी रज्जुमें इन प्राणियोंका मन जकड़ा हुआ है। उन दयनीय पशु-जगत्के जन्तुओंके अतिरिक्त मानव-योनिमें भी आये हुए करोड़ों देहधारी जीव स्वकीय भोगोंका सहर्ष भुगतान करनेके लिये बाध्य हैं। वे भी तो मनुष्य हैं, जिन्हें अपनी उदरपूर्तिके लिये कोयलेकी खानोंमें काम करना पड़ता है। दिनमें बारह घंटे कोयलेकी धूलिमें लोटा करते हैं। कोई सीमेन्ट अथवा चूना भर-भरकर गाड़ियोंमें लादते-लादते कितनी मात्रामें सीमेन्ट, चूना, रोड़ी, सुर्खी प्राणोंके द्वारा अपने फेफड़ोंमें भरा करते हैं। वे भी तो मानव-संततिके पुत्र कहलाते हैं, जिनके हाथ और पाँव, नाक और मुख, आँखें और कान—समूचा शरीर ही तो उच्चजातीय मनुष्योंके मल-मूत्रके उठानेमें डूबा रहता है। यह किसकी देन है? किसी मानवका शाप नहीं। ऋषि-मुनियोंका अभिशाप नहीं, बल्कि अपने ही कर्म हैं, जो कभी किसी जन्ममें किये गये थे। वे भी मनुष्य-जन्ममें ही सम्भव थे—इतर भोगयोनियोंमें नहीं। नूतन कर्मशृङ्खलामें नव-नव ग्रन्थियाँ केवल मानवजन्ममें बँध सकती हैं। साथ ही यह मात्र जीवन होता है, जिसमें अवाञ्छित कर्म-निचयोंका परिहार किया जा सकता है। यह मानव-जन्म ही तो है जिसमें विचरण करते हुए अपने ज्ञान और सद्विवेककी ज्योतिमें आत्माके पावन दर्शन किये जा सकते हैं। जिस मनुष्यको मोक्षप्राप्तिका अधिकार मिल चुका हो, जिसमें इतनी सत्ता निहित हो कि वह अपने बुद्धि-वैभवसे भूलोकमें बैठा हुआ चन्द्रलोक, मंगल तथा शुक्र ग्रहोंका पर्यवेक्षण करनेकी क्षमता रख सकता हो, वह तिसपर कहा करे मैं अशान्त हूँ, मैं हूँ विपद्ग्रस्त, मुझे अपना जीवन बोझल हुआ जाता है। 'त्राहि माम्,' 'त्राहि माम्' की गूँज सुन पड़ती हो। यह युग तो है वैज्ञानिक—भौतिक तत्त्वोंकी गम्भीर खोज अणु-परमाणुओं-तक दिन-प्रतिदिन निरन्तर हो रही है। कुछ भी हो—जन-साधारणका जीवन दुःखोंसे परिपूर्ण है।

हमारे ऋषि-मुनियोंने गहन विपिनोंमें, शैल-शिखरोंपर, गिरि-गह्वरोंमें, नदियोंके संगमोंकी संनिधिमें समाहित होकर जीवनमें 'शान्ति' तत्त्वकी गम्भीर गवेषणा की और उन्होंने लोकहितकी सद्भावनासे डंकेकी चोट यह उद्-घोषित किया—

ऊर्ध्वबाहुर्विरौम्येष न च कश्चिच्छृणोति माम्।
धर्मादर्थश्च कामश्च स धर्मः किं न सेव्यते॥
श्रूयतां धर्मसर्वस्वं श्रुत्वा चैवावधार्यताम्।
आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्॥

(महाभारत, शान्तिपर्व)

पाराशर व्यासने कौरव-पाण्डवोंको अपनी भौतिक समुन्नति-पर मदान्ध होते हुए देखकर मन-ही-मन विचार किया। उधर द्वापर युगके मनीषी, ज्ञान-विज्ञान-धुरन्धर ब्रह्मचारी भीष्म, योगेश्वर श्रीकृष्ण, महात्मा विदुर, पतिव्रता माता गान्धारी, आचार्य द्रोण—एक-एक करके सबने दुर्योधनको प्रबोधित किया। उसे बारंबार भ्रातृ-युद्धमें न कूदनेका सत्परामर्श दिया—भीषण संग्रामसे कितनी विराट् अपरिमेय क्षति हुआ करती है। परंतु अर्थ और कामका लोलुप दुर्योधन अपने दुस्संकल्पपर अचल रहा। दूत बनकर पधारे हुए युग-पुरुषकी उसने तीव्र भर्त्सना की और स्पष्ट शब्दोंमें ललकारते हुए कहा—

'सूच्यग्रं नैव दास्यामि विना युद्धेन केशव।'

अरे गोपाल! मैं रणके बिना सूईकी नोकभर भी भूमि-खण्ड देनेको प्रस्तुत नहीं हूँ। मैं तुम्हारी सब व्याख्या श्रवण कर ली है।

उस समय महर्षि व्यासने उस विषाक्त वातावरणमें संजीवन-शक्तिको संचरित करनेके लिये यह वाणी कही—

ऐ मदोन्मत्त, गर्वभरित मानवो! मैं अपनी भुजाओंको ऊपर उठाकर इस त्रिकाल सत्यकी घोषणा किया चाहता हूँ—और पुन-पुनः कहता हूँ कि ऐ मानव! तू मदान्ध

मत बन । अर्थ और काम मनुष्य-समाजको निगल जानेवाले दो महाग्राहके तुल्य होते हैं—उनके पल्ले न पड़, धर्मकी प्रशीतल छायामें आ जाओ । धर्मपूर्वक अर्थका संचय करो—धर्म और अर्थकी सहायतासे कामनाओंकी पूर्त्ति भयङ्कर नहीं होती । हा ! कितने खेदका विषय है । कोई मेरी गुहार सुनता नहीं । धनलोलुप राष्ट्र जाने किस दुर्गतिका शिकार हो जायेगा ।

और आगे 'धर्म' शब्दकी विशद, विस्तृत व्याख्या नहीं करना चाहते । महर्षि संक्षेपमें इतना ही कथन करते हैं—ऐ मेरे अभिमत प्राणियो ! धर्मके सम्बन्धमें जो कुछ निष्कर्ष हो सकता है, मैं तुम्हें उसे समझाता हूँ—तुम सुनो । केवल श्रवण नहीं करो, अपितु सुनकर उसपर मनन करो, उसे चीन्हो, उसका परिशीलन करो । और वह परिभाषा धर्मकी और कुछ नहीं, इतनी मात्र ही है—'मानव औरोंके प्रति वैसा कोई भी आचरण न करे, जिस आचरणसे उसके अपने मानसको ठेस पहुँचनेकी सम्भावना हो ।' यह है गृहस्थजीवनमें सच्ची शान्तिका मार्ग ।

गृहस्थजीवन निर्वाण-पदकी सरणिमें द्वितीय आश्रम है । यह जीवनका साध्य नहीं, एक साधन है । साधन किसी वस्तुकी पूर्त्तिमें सहायक होता है । विवेकशील मनुष्यका लक्ष्य है मुक्ति—और उसतक पहुँचनेके चार सोपान हैं, जिनका उल्लेख मनीषियोंने मानवमात्रके लिये किया है—१. धर्म, २. अर्थ, ३. काम और ४. मोक्ष । इन चारों अङ्गोंकी सिद्धि अत्यावश्यक होती है मनुष्यके लिये ! इन चारोंको एक ही जीवन-समयमें पूर्ण कर लेना किसी बिरले परम संस्कारी जीवका कार्य होता है । नहीं तो ९९ प्रतिशत प्राणी प्रथम तीन सोपानोंमेंसे किसी एक अथवा दोतक ही अटके रहते हैं । मोक्ष-साधन कर लेना महाकठिन कार्य होता है । और अधिकांश लोग तो ऐसे ही दिखायी पड़ेंगे, जिन्हें इन चारों साधनोंमेंसे एक-से भी सरोकार नहीं होता । उनके लिये नीतिकारोंने कथन किया है—

धर्मार्थकाममोक्षाणां यस्यैकोऽपि न विद्यते ।
अजागलस्तनस्येव तस्य जन्म निरर्थकम् ॥

जिस पुरुषको धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—इनमेंसे एक साधनसे भी कोई प्रयोजन नहीं रहा, उसका जन्म ऐसे ही निरर्थक और निष्फल समझना चाहिये जैसे बकरीके गलेमें उगनेवाले स्तन निष्प्रयोजन हुआ करते हैं ।

जिस सद्गृहस्थको अपने गार्हस्थ्य-जीवनमें सुखद शान्तिका संनिवेश करना हो, वह अपने धर्मका सुचारुरूपमें परिपालन करे । 'अपने धर्म' से अभिप्राय है उन प्रकृतिदत्त सद्गुणोंका, अपने स्वाभाविक संस्कारोंका संरक्षण करना । जो गृहस्थ सत्त्वगुणसम्पन्न है और उसकी सहधर्मिणी भी सत्त्वनिष्ठा है—दोनों सत्त्व-गुणका संवर्धन करें । नर अपने पुरुषधर्मकी और नारी स्वकीय नारी-धर्मकी रक्षा करती हुई चले । जो दम्पती रजोगुणी हैं, उन्हें रजोगुणमें रहते हुए प्रयत्न करते रहना चाहिये कि वे रजोगुणकी चञ्चलता, अशान्ति और अस्थिर-चित्तताके शमन करनेका प्रयास करें । सत्त्वगुणनिष्ठ सज्जनोंके सम्पर्कमें सात्त्विक ग्रन्थोंके अध्ययनमें, सात्त्विक विचारोंसे पूर्ण सत्सङ्गोंमें लगे रहनेका भरसक प्रयत्न करें । जिनमें पूर्वजन्मके संगृहीत तमोगुणी संस्कारोंकी बहुलता है—ऐसे पति और पत्नी मानव-जीवनके आयुः-परिमाणको अविद्यामें ही न खो दें, सत्कुलीन गृहस्थोंकी सेवा-शुश्रूषामें जुट जायँ । उनमें ऐसे पवित्र वातावरणमें आते-जाते रहनेसे तमोगुणके संस्कार क्षीण होने लगेंगे । संगतिका प्रभाव तो पड़े बिना रह नहीं सकता । 'जैसा संग वैसा रंग ।'

संतप्तायसि संस्थितस्य पयसो नामापि न ज्ञायते
मुक्ताकारतया तदेव नलिनीपत्रस्थितं राजते ।
स्वात्यां सागरशुक्तिकुक्षिपतितं तज्जायते मौक्तिकं
प्रायेणाधममध्यमोत्तमगुणः संसर्गतो जायते ॥

अत्यन्त तपे हुए लाल लोहेकी चादरपर स्वाति नक्षत्र-कालमें पड़ी हुई एक जलकी बूँद तत्काल ही सूख जाती है, उसका नामो-निशान मिट जाता है । वैसे ही जलकी बूँद यदि गिरकर किसी कमलके पत्तेपर जा अटके तो वह मोतीके सदृश चमक देने लगती है । इनमें पहली बूँदकी संगतिको अधम और दूसरीको मध्यम कहते हैं । वैसे ही बादलोंकी गोदसे निकली एक और बूँद नीचे उतरी; समुद्रके जलपर एक सीप अपना मुँह खोले तैरती थी—उसमें जा पड़ी । ओहो ! भाग उसके । वह पानी पानी ही न रहा—एक मोती जा बना । यह है उत्तम संसर्गका प्रभाव !

इसी तरह गृहस्थ पुरुषका प्रमुख धर्म यह है कि वह अपनेको सत्त्वगुणविशिष्ट बना ले । यदि नर अथवा नारी विद्याध्ययन-कालमें एकाकी जीवन बिताते हुए अपनेमें पूर्णता नहीं ला सके तो इस दूसरे आश्रममें दोनों एक दूसरेकी प्रकृतिका सम्यक् अनुशीलन करें । भार्या कोई दासीके रूपमें पुरुषके आँचलमें नहीं बाँधी गयी होती । पुरुष यदि 'नर' है तो उसे 'नरत्व' के गौरवको समझना है । नारीकी शालीनताको कलुषित करनेका उसे कोई अधिकार नहीं ।

गृहस्थ-आश्रममें प्रवेश करते हुए प्रतिज्ञाविधिको पूर्ण करनेके पश्चात् वर और वधू 'सप्तपदी' का अनुष्ठान करते हैं। दोनोंका पाणिग्रहण हो चुका होता है। गठजोड़ा करके दोनों यज्ञवेदीकी उत्तर दिशाकी ओर सात पग चलते हैं। नारी और नर दोनों समानाधिकारसे सुभूषित होकर निम्नलिखित सात वचन बोलते हैं—१. **इषे एकपदी भव**—ऐ देवि! तेरा पहला पग इस हमारे नूतन ज्येष्ठाश्रममें विपुल अन्नको लानेवाला हो। २. **ऊर्जे द्विपदी भव**—तेरे दूसरे पगके साथ हम दोनोंकी कायामें शक्तिका संचार हो। ३. **रायस्पोषाय त्रिपदी भव**—तुझ कन्याके शुभागमनसे हमारे गृहमें धन-धान्यकी, पुष्ट स्वास्थ्यकी न्यूनता न रहे। हम दोनों धन-धान्यसम्पन्न हों और नीरोग, निरामय और स्वस्थ हों। ४. **मयोभवाय चतुष्पदी भव**—शुभे! तेरे और मेरे चतुर्थ पदके साथ-साथ हमारे गृहमें सुख-शान्ति, सद्भावना, सत्प्रेरणा तथा सुमतिका संनिवेश होता चले। यथार्थ है यह वचन—अन्न, शक्ति, धन, स्वास्थ्य होते हुए भी यदि पारस्परिक विचारोंमें सामञ्जस्य नहीं—ऊहापोह, तर्क-वितर्क, मतिवैषम्य, विरोधी विचार हृदयमें बसे हुए हों, तो भी विवाह—विशेष रूपसे मानव-जीवनके भारको वहन करना दूभर हो जायगा। आगे पञ्चम पग उठाते हुए दोनोंने समस्वरसे प्रार्थना की—५. '**प्रजायै पञ्चपदी भव—सा मामनुव्रता भव विष्णुस्त्वा नयतु पुत्रान् विन्दावहै बहूंस्ते सन्तु जरदष्टयः**' ऐ कल्याणि! हमारा सदन पुत्रोंकी कलकलसे रमणीय बन जाय। '**अपुत्रस्य गृहं शून्यम्**' संततिहीन गृह शून्य काननके समान अप्रिय प्रतीत होता है। इस सद्भावनासे उठते हुए हमारे पाँचवें पगमें परमात्मासे प्रार्थना है कि वह हमें पुत्रवान् बनाये; वे संतानें भी सुशिक्षित, विनयशील, सद्गुणग्राही और आयुष्मान् हों—अपने वंशकी कीर्तिको विश्वमें प्रसारित करनेवाली हों और तू सदा मेरी आज्ञाकारिणी रहना। हम दोनों एक ही व्रतके पालक बनें। ६. **ऋतुभ्यः षट्पदी भव**—तेरा छठा कदम हमारे कुलोंमें समस्त ऋतुओंके सौख्य तथा समृद्धिको भरनेवाला हो। और यह हमारा सप्तम पद ७. **सखे सप्तपदी भव**—आजसे हम दोनों पावन मैत्रीके शुचि बन्धनमें आबद्ध होते हैं। हम दोनोंका नाता पति-पत्नी-का तो हुआ ही; किंतु इस पवित्र सम्बन्धमें जो आत्मा कार्य करेगी, वह होगी सन्मैत्रीकी। हम अपनी इस जीवन-नैयाके आजसे केवट हुए। सुख-दुःखमें, हानि-लाभमें, मानापमानमें, पाप-पुण्यमें और धर्माधर्ममें समान भागी होंगे। हमारा सम्बन्ध दास-दासीका-सा नहीं है—स्वामी और सेविकाका भी नहीं, सन्मित्रताका है, जो मर्यादा-पुरुषोत्तम राम और जनकनन्दिनी सीताका था, जिस नातेमें योगेश्वर श्रीकृष्ण और पतिव्रता रुक्मिणी जीवनभर आबद्ध रहे। यह है उदात्त गृहस्थ-जीवनकी एक आधारभूत झाँकी। परिणय हो जानेके उपरान्त भी जिन्होंने इन सात प्रतिज्ञाओंकी मर्यादाको सँभाला, वे गृहस्थमें भी शान्त, सुप्रसन्न और मानव रह सके।

'**साप्तपदीनं सख्यम्**'—पाणिनि। मित्रता सात पद चलनेसे दृढ़ हो जाती है। '**सख्यं सतां साप्तपदीनमुच्यते**'—रघुवंश कुम्भोदर सिंहराजकी यह उक्ति है महाराजा दिलीपके प्रति—सज्जनोंकी मैत्री सप्तपद चलनेसे सुदृढ़ समझी जाती है। विवाह-विधिमें—

'**कन्या भवति वै नारी, विवाहात्सप्तमे पदे**'—सप्तपदीके प्रकरणमें सातवाँ पग भरनेसे पूर्वतक कन्या कन्या रहती है—'नारी' पदकी अधिकारिणी नहीं होती। इससे भी इसी तथ्यकी पुष्टि हो जाती है कि गृहस्थ-जीवनमें जो अशान्तिका बोल-बाला है—उसका मूल कारण मित्रताके धर्मको न निभाना है।

गृहस्थ-जीवनमें ही मानवको अपना छोटा-सा संसार बसाकर विराट् ब्रह्माण्डमें कार्य करती हुई सम्पूर्ण प्रक्रियाओं-का एक संक्षिप्त संस्करण मिल जाता है। एक ही परिवारमें त्रिगुणात्मक प्रकृतिके भिन्न-भिन्न खिलौने आ इकट्ठे होते हैं। कई आत्माएँ पुत्ररूपमें पहुँचकर सत्त्वगुणकी सुषमा बखेर देती हैं। कोई आत्मा रजोगुणमें लिपटी हुई कन्या बनकर अपनी आडम्बरप्रियताका प्रकाश कर रही होती है। कोई आत्मा तमोगुणमें समाच्छन्न हुई उस परिवारका सदस्य आ बनती है और आलस्य, प्रमाद, तन्द्रा, अज्ञान, अविवेक, गर्व, दम्भ, दर्द और अनास्थाका तिमिर-जाल फैलानेमें प्रवण रहती है। गार्हस्थ्य आश्रम तो एक ऐसा रंगमञ्च-सा बन जाता है, जिसपर दसों रसोंका आकर्षक अभिनय समय-समयपर चलता रहता है। कभी शृङ्गार-रस अपनी छटामें उन्मत्त होता है तो दूसरी ओरसे रौद्र, करुण, शान्त रसोंकी वृष्टि होने लगती है। कभी बीभत्सका उन्मुक्त ताण्डव होने लगता है और क्रोध आकर दनदनाता है। हाँ, मेघमालामें जिस प्रकार सौदामनी प्रवेश करके अपनी दिव्य कान्ति क्षणभरके लिये दिखला जाती है, वैसे ही मञ्चपर हास्य-रसकी मधुर रेखा भी एक बार झाँक जाती है। कभी वही परिवार इतना भयङ्कर रूप धारण कर लेता है जो भाई-भाईको

नोचनेको तत्पर है। बहिनें माता-पिताको खरी-खोटी सुनानेमें नहीं लजातीं। न्यायालयोंमें जाकर एक दूसरेपर कीच उछालने-तककी नौबत आ जाती है। यह सब प्रकारका नाटक गृहस्थ-जीवनमें ही सम्भव होता है। अनेक पात्र एक ही अन्नसे पलनेवाले, एक ही वातावरणमें पोषित हुए, पारस्परिक रहस्योंको बहुत अंशतक समझनेवाले, अपनी-अपनी अहमहमिकामें निमग्न गृहस्थ-जीवनके प्रशान्त गगन-मण्डलको कभी भी प्रसन्न नहीं रहने देते। विशेषरूपसे आधुनिक विज्ञानप्रधान युगमें, जब कि अर्थ और कामका साम्राज्य उन्मुक्त हुआ फैलता-सा जा रहा है, निरंकुशताके पौ बारह हो रहे हैं, राजसी और तामसी प्रवृत्तियोंको छूट मिली हुई है। बराकी शान्तिकी प्रतिमा क्या करे—मौन, मूक, निस्तब्ध-सी बनी एकटक निहार रही है दानवताके रंगमें रँगी हुई मानवताको।

गृहस्थ-आश्रम तो वस्तुतः वह आकर है, जिसमें नैष्ठिक ब्रह्मचारी, परिपूत सद्गृहस्थ, विशुद्धात्मा वानप्रस्थ और अग्निमय तेजस्वी संन्यासी आत्मनिर्माण किया करते हैं। मानवताका शुचि मुक्ताकण गृहस्थकी ही शुक्तिमें निर्मित हुआ करता है।

यथा नदीनदाः सर्वे सागरे यान्ति संस्थितिम्।
तथैवाश्रमिणः सर्वे गृहस्थे यान्ति संस्थितिम्॥
यथा वायुं समाश्रित्य वर्तन्ते सर्वजन्तवः।
तथा गृहस्थमाश्रित्य वर्तन्ते सर्व आश्रमाः॥

(मनुस्मृति)

पर्वत-मालाओंसे विनिस्सृत होकर जैसे अशेष सरिताएँ कलकल करती हुई सागरमें जाकर शान्त होती हैं, वैसे ही शेष तीनों आश्रमोंके व्रतधारी नर-नारी गृहस्थियोंके द्वारसे अवलम्ब पाते हैं। ब्रह्मचारी, वानप्रस्थ, परिव्राजक—तीनों भिक्षोपजीवी हैं। और भिक्षा देनेके एक मात्र अधिकारी सद्गृहस्थ ही होते हैं। तीनों उसीके द्वारपरसे आजीविका जुटाते हैं।

जिस भाँति पवन हमारे प्राणोंका आधार रहता है, वैसे ही अन्य-आश्रमी जीव गृहस्थका आश्रय पाकर अपनी जीवन यात्राको चलानेमें समर्थ होते हैं। **तस्माज्ज्येष्ठाश्रमो गृही**—अतएव गृहस्थाश्रम सबका मूर्धन्य हो योगी, यति, तपस्वी, सम्राट, परिव्राट्, शिल्पकार, चित्रकार, लेखक, विद्वान्, परमसिद्ध, मुनीश्वर, श्रमण, बैखानस, ऐश्वर्यशाली, दरिद्र, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र—मानव-समाजके सब प्रकारके अङ्ग प्रत्यङ्ग इसी गृहस्थ-आश्रमकी उपज होते हैं। धूर्त, पिशाच, तस्कर, कुटिल, धीर, वीर, गम्भीर—सभीका सृजन इसी मूलसे होता है। इतना गौरवास्पद तथा प्रतिष्ठा-भाजन है यह आश्रम! राष्ट्रकी उन्नति और अवनतिके प्रतीक हैं ये गृहस्थाश्रम—यदि ऐसा भी कह दिया जाय तो इसमें अत्युक्ति न होगी।

इतनी मान्यताका पात्र यह गृहस्थ जीवन अब अर्थ और कामके कर्दममें सना हुआ शोचनीय दशामें चीत्कार कर रहा है। राग-द्वेषकी होली खेली जाती है। एक दूसरेपर अविश्वास है। सहृदयता, सद्भावना और उदारता किनारा किये जा रही हैं। इस सब नारकीय स्थितिके नीचे तीन हैं महापातकी, जो तीन ओरसे गृहस्थ-जीवनकी सौम्य और सौम्यमयी सुषमाको निगीर्ण करते जा रहे हैं। इन तीन जघन्य पापियोंको नरकका द्वार कहा गया है—

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः।
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत्॥

काम, क्रोध और लोभ नरकके द्वार हैं। जिस गृहस्थको अधोगति प्रिय नहीं, जिसे कोटि-कोटि पुण्योंके प्रभावसे यह मानवजन्म प्राप्त हो गया है, वह इन तीनोंको तिलाञ्जलि दे देनेका प्रयत्न करे।

धर्मं यो बाधते धर्मः न स धर्मो कुवर्त्म तत्।
अविरोधात् तु यो धर्मः स धर्मः सत्यविक्रम॥

(महाभारत)

यदन्येषां हितं न स्यादात्मनः कर्म पौरुषम्।
अपत्रपेत वा येन न तत् कुर्यात् कथंचन॥

उस कर्तव्यको अकर्तव्य मानो, जिससे आत्म-दर्शनमें बाधा आती हो। वह तो कुमार्ग है, उपादेय कार्य नहीं। वह कृत्य सर्वथा परित्याज्य है, जिसके पालनसे जन-कल्याण नहीं होता अथवा जिसके अनुष्ठानसे पश्चात्ताप, ग्लानि तथा हृदयमें लज्जाका उदय हो आता है।

सद्गृहस्थका यह ध्येय होना चाहिये—

सदयं हृदयं यस्य भाषितं यस्य भूषितम्।
कामः परहितो यस्य कलिस्तस्य करोति किम्॥

जिसके हृदयमें दयाका भाव अधिष्ठित हो। वचनोंमें सरसता हो। उसकी भावनाएँ लोकसंग्रहका ध्यान रखती हों। उस गृहस्थ जीवनमें पाप-तापका प्रवेश नहीं हुआ करता।

क्रोधः शत्रुश्शरीरस्थो मनुष्याणां द्विजोत्तम ।
यः क्रोधमोहौ त्यजति देवास्तं ब्राह्मणं विदुः ॥
न बिभेति परो यस्मान्न बिभेति पराच्च यः ।
यश्च नेच्छति न द्वेष्टि ब्रह्म सम्पद्यते तदा ॥
यदा भावं न कुरुते सर्वभूतेषु पापकम् ।
कर्मणा मनसा वाचा ब्रह्म सम्पद्यते तदा ॥
संयोज्य मनसाऽऽत्मानमीर्ष्यामुत्सृज्य मोहिनीम् ।
त्यक्त्वा कामं च मोहं च तदा ब्रह्मत्वमश्नुते ॥

नरको नारायणत्व किन दशाओंमें अधिगत हो सकता है, इसका रुचिर चित्रण इन उपरिलिखित श्लोकोंमें किया गया है ।

'ऐ कुलीन द्विजश्रेष्ठ ! मानवके देहमें क्रोध एक प्रबल शत्रु है; जो क्रोध और मोहका त्याग कर लेता है, वह अतिमानव हो जाता है । विश्वके समस्त जीवोंके प्रति जिसके सात्त्विक अन्तर्मानसमें निष्पाप कालुष्यशून्य शुभ्र भाव-तरङ्गें आन्दोलित हुआ करती हैं और जिसके मन, वचन और कर्ममें अनवरत समत्व विराजमान होता है, वह ब्रह्मरूप ही हो जाता है । जिससे नारायणत्व-पदकी प्राप्ति हो सकती है—वह सत्कर्म है मनोविनोदिनी ईर्ष्याका परित्याग कर देना, अपने मनका परिनिमज्जन, मोह और कामको आत्मसत्ताके आनन्दमें चरम नमस्कार कर देना ।

इसी वसुधातलपर स्वर्गीय सुखोंका जहाँ अनुभव हो सकता है वहाँ नारकीय दशाओंमें ग्रस्त प्राणियोंको भी देखा जा सकता है । तत्त्वदर्शियोंके ये वचन मिथ्या नहीं:—

स्वर्गस्थितानामिह जीवलोके
चत्वारि चिह्नानि भवन्ति देहे ।
दानप्रसङ्गो मधुरा च वाणी
देवार्चनं ब्राह्मणतर्पणं च ॥
अत्यन्तकोपः कटुका च वाणी
दरिद्रता च स्वजनेषु वैरम् ।
नीचप्रसङ्गः कुलहीनसेवा
चिह्नानि देहे नरकस्थितानाम् ॥

इस अवनीतलपर उन सद्गृहस्थोंको स्वर्गसुखोंमें रमा हुआ जानना चाहिये, जिनमें दानशीलता है, मधुर वाणीमें वार्त्तालाप करनेकी प्रवृत्ति है, विद्वज्जनका जो सम्मान करते हैं और परमात्मनिष्ठ, वीतराग मुनिजनोंके प्रति जिनके हृदयमें आस्था रहती हो । इसके विपरीत—वे गृहस्थ मानव वस्तुतः नारकीय जीवन यापित करते हैं, जिनमें प्रचण्ड क्रोध विद्यमान है, जिनकी वाणी कर्कश है, जो कृपण और गुणविहीन हैं, स्वकीय बन्धुजनोंसे जिनकी कभी पटती न हो, जो सदा उनसे ३६ बने रहते हों, नीच निकृष्ट लोगोंकी सेवा जिन्हें प्रिय लगती हो ।

गृहस्थ-जीवन तो दूसरी मंजिल है । **'शतायुर्वै पुरुषः'**—मनुष्यकी आयुका परिमाण न्यूनतम सौ वर्षका हो । इन संवत्सरोंको चार आश्रमोंमें व्याप्त कर देना चाहिये । ब्रह्मचर्य चौबीस, गृहस्थ चौवालीस; जीवनके अड़सठवें वर्षमें प्रवेश करके एक सद्गृहस्थ, जो मुमुक्षु हो, शेष जीवन लोकसंग्रहमें व्यतीत करे । विश्व-परिवारोंका सदस्य अपनेको बनानेका प्रयास करे । इस उच्च आदर्शतक पहुँचनेके लिये वह अपने गृहस्थ-कालमें अधस्तन तीन उदात्त लक्ष्योंपर अजस्र दृष्टि रखता रहे और इन्हें आत्मसात् कर ले—१. यज्ञ, २. दान, ३. तप ।

'यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम्'—श्रीमद्भगवद्गीता । मननशील मानवको यज्ञमय, दानशील तथा तपोनिष्ठ जीवन बना लेना चाहिये ।

सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः ।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक् ॥

विश्वपतिने समग्र प्रजाजनोंका सृजन करके उनसे कहा —'ऐ प्राणधारियो ! तुम्हें मैंने यज्ञ-भावनासे अनुप्राणित कर दिया है । यदि तुम्हारी इस त्रिगुणमयी सृष्टिमें सुख-शान्तिसे जीवन-यापन करनेकी अभिलाषा है तो सदा यज्ञशील रहना । स्वार्थ-परायणतासे दूर, निःस्वार्थ, निष्काम, लोक-कल्याणकृत होकर सम्पूर्ण कामनाओंको परिपूर्ण कर लोगे—यही अच्छी संजीवन-वटी है ।

आजका मानव इसी स्वर्णाक्षरोंमें अङ्कित किये जाने योग्य सार्वजनीन नियमको विस्मृत किये जा रहा है । प्रत्येकको अपनी चिन्ता पहले निगले जाती है। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह—ये पाँचों नित्यके महाव्रत उदस्त हो रहे हैं । इनका स्थान यदि हिंसा, अनृत, चौर्य, असंयम और भोगलोलुपता लेती चली जाती हो तो क्यों अवसन्न हों हम ।

गृहस्थ-जीवनमें शान्तिका मार्ग किसी सुदूर देशसे उठाकर नहीं लाना है, मानवके अन्तःकरणमें उसकी एक-एक कड़ी बिखरी पड़ी है । उसे सँजोना सीखें । पथपर अड़ी हुई कुसंस्कारोंकी प्रगाढ़ धूलिको परिमार्जित कर लें । इसका एक अत्यन्त रमणीय, सरल, सुलभ, संक्षिप्त और क्रियात्मक साधन है—

'प्रत्येक पदार्थको जो भी हमारे उपयोगमें है, आ चुका है, आयेगा, उसे परम शक्तिकी—परात्पर परब्रह्मकी धरोहर समझें।' यह विचार कल्पना-प्रसूत न होकर अंशतः, नहीं सर्वांशतः यथार्थ है। अपनी ममता ही संसारकी निस्सारताको हमसे तिरोहित कर देती है।

द्वे पदे बन्धमोक्षाय ममेति निर्ममेति च।
ममेति बध्यते जन्तुर्निर्ममेति विमुच्यते॥
ममेति दुःखमूलं हि निर्ममेति च निर्वृतिः।
शुकस्य विगमे दुःखं न दुःखं गृहमूषके॥

इस विश्वमें चेतन आत्माका अपना है ही क्या? कुछ भी तो नहीं। न यह अन्तःशरीर और न यह बाहरका स्थूल देह। जड और चेतनमें एक ग्रन्थि बँध गयी है—अपनी हमारी अविद्यासे। उसके कारण ही यह जीव निजरूपसे अनभिज्ञ-सा हो गया है, अज्ञान-तिमिरमें जा कूदा है—उसीमें ठहरा हुआ इच्छा कर रहा है कि मेरी वह गाँठ खुल जाय। व्रत, उपवास, सत्संग, देवाराधन, अनुष्ठानादिके द्वारा हाथ-पाँव भी पटकता है—कदाचित् वह ग्रन्थि सुलझ जाये। परंतु अज्ञानावृत जीव अकेला भी तो नहीं—है भी गृहस्थी, चारों ओरसे अनेकों ममता-पाशोंसे विनिबद्ध। वह गाँठ दिन-दिन उलझती जाती है। वह तो तब खुल सकेगी, जब प्रथम प्रकाशका प्रबन्ध करे—उस ग्रन्थिके रूपको चीन्हे—कौन-सी गाँठ सर्वोपरि है, जिसे सबसे पहले खोला जाय। पुनः आगे चले। और वर्तमानमें न तो रही वह वर्णव्यवस्था न विद्यमान है आश्रम-व्यवस्था—सब अटकल पच्चूका काम हो रहा है। यह हृदय-ग्रन्थि बँधी-बँधी रह जायगी और हमें विवश होकर निर्वाण-पदके द्वारसे कहीं विदूर देशमें चले जाना होगा।

ॐ असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसाऽऽवृताः।
तांस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः॥
(यजुर्वेद ४०)

उन अन्धकारपूर्ण लोकोंमें उन्हींको स्थान मिलता है, जिन्होंने न आत्म-दर्शन किये होते हैं और जो न उस ग्रन्थिको खोल पाते हैं।

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे॥

जिन आत्माओंने परात्पर ब्रह्मका साक्षात्कार कर लिया होता है, उनकी यह हृदयमें पड़ी हुई अविद्याकी ग्रन्थि स्वतः उन्मुक्त हो जाती है; परंतु जो गृहस्थ—

यः प्राप्य मानुषं देहं मुक्तिद्वारमपावृतम्।
गृहेषु खगवत्सक्तस्तमारूढच्युतं विदुः॥

जिस मनुष्यने मानवदेह प्राप्त करके इस उन्मुक्त मुक्तिके द्वारमें प्रवेश नहीं कर लिया और घरकी आसक्तिमें जीवनभर फँसा रहा, उसे तत्त्वद्रष्टा आरूढ-च्युत अर्थात् अधरमें लटके हुए त्रिशंकुका दर्जा देते हैं।

अतः पदार्थमात्रको अपना न समझे, न समझे और न समझे। सब किसी पदार्थको औरकी धरोहर मात्र जाने। उसका संरक्षण, पोषण, सदुपयोग चिन्तापूर्वक करे—किंतु मनमें यही भावना बसी हुई हो कि यह सब कुछ मेरा नहीं। मुझे जिसका है, उसे शीघ्रातिशीघ्र लौटाना है। योगेश्वर श्रीकृष्ण अर्जुनसे परम शान्तिका एक ही सदुपाय बतलाते हैं—

आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं
समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत्।
तद्वत्कामा यं प्रविशन्ति सर्वे
स शान्तिमाप्नोति न कामकामी॥
विहाय कामान् यः सर्वान् पुमांश्चरति निःस्पृहः।
निर्ममो निरहंकारः स शान्तिमधिगच्छति॥

ऐ अर्जुन! चारों ओरसे लबालब भरे हुए महार्णवमें जिस तरह समस्त नदियाँ स्व-प्रवेश किया करती हैं—सागर कभी उन जलधारोंसे जलकी याचना नहीं करता—वैसे ही जो मानव, चाहे वह किसी आश्रममें हो, संसारकी कामनाओंका लिप्सु नहीं होता प्रत्युत सम्पूर्ण कामनाएँ जिस पुरुषकी अभीप्सा करती रहती हैं—वही नैष्ठिक शान्तिका भाजन बन सकता है अन्य नहीं।

जो पुरुष वीतराग होकर अशेष कामनाओंसे छुट्टी करके, मोह और ममताको एक ताकपर रखकर विश्वमें विचरण करता है, 'शाश्वती शान्ति' उसका स्वतः वरण करती है—नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय।

नाम-स्मरणका प्रभाव

(लेखक—पं० श्रीवेणीरामजी शर्मा गौड़, वेदाचार्य)

काशीसे छः-सात मीलकी दूरीपर 'सारनाथ' नामका सुप्रसिद्ध ऐतिहासिक स्थान है। वहाँ प्रतिवर्ष श्रावण मासके प्रत्येक सोमवारको बहुत बड़ा मेला लगता है। मेलेमें जानेवाले लोग सारनाथके सुप्रसिद्ध शिवजी (सारनाथ महादेव) के दर्शन करते हैं।

सन् १९३८ की बात है। मैंने तथा मेरे कतिपय मित्रवर्गने श्रावण मासके चतुर्थ सोमवारको सारनाथ चलनेका निश्चय किया। सारनाथमें मेरा एक बगीचा है। सबकी सम्मति थी कि 'मेलेसे एक दिन पूर्व रविवारको सारनाथ बगीचेमें चला जाय, वहीं रात्रिमें भोजन और विश्राम किया जाय और दूसरे दिन सोमवारको सारनाथ महादेवके दर्शनकर वापस लौट आया जाय।' निश्चित योजनानुसार हमलोग यथासमय सारनाथ बगीचेमें पहुँच गये। वहाँ पहुँचनेपर माळूम हुआ कि 'सारनाथमें हैजेका प्रकोप है, जिससे अनेकों मनुष्य मौतके घाट उतर चुके हैं।' हैजेका नाम सुनकर एक बार तो सभीका चित्त डाँवाडोल हुआ, परंतु भगवान्‌का स्मरणकर सभीने वहाँ ठहरनेका ही निश्चय किया। पश्चात् सब लोग अपने-अपने गोरखधंधेमें लग गये। रात्रिमें भोजनादिसे निवृत्त होकर सब लोग शयनोन्मुख हुए।

दूसरे दिन सोमवारको प्रातःकाल सभी लोग अपनी-अपनी शय्या त्यागकर सोत्साह अपने दैनिक कर्ममें लग गये; परंतु मैं खिन्नमनस्क पलंगपर लेटा हुआ मन्द-मन्द उदर-व्यथासे पीडित तथा हैजेकी कल्पनासे भयभीत हो रहा था। फिर भी मैंने अपने रोगको विशेष महत्त्व नहीं दिया और मैं प्रतिदिनकी तरह स्नानादि नित्यकर्ममें लग गया। नित्यकर्म समाप्त होनेके बाद दिनमें १२ बजे होंगे, उसी समय किसीने आकर कहा—'भोजन तैयार है।' मैंने अस्वीकार कर दिया; परंतु मित्रोंके प्रेमाग्रहके कारण मुझे थोड़ा-बहुत भोजन करना ही पड़ा। भोजन करनेके दो घंटे बाद ही मेरी शारीरिक अवस्था बिगड़ने लगी। सायंकाल ६ बजते-बजते रोगने उग्र रूप धारण कर लिया। लोगोंसे माळूम हुआ कि मैं हैजा (विसूचिका) जैसे प्राणान्तक रोगके चंगुलमें फँस गया हूँ। 'हैजा' का नाम सुनते ही मेरे सभी मित्र बहुत घबराये और तत्काल मेरी परिचर्यामें लग गये। उस समय सारनाथमें डाक्टर, वैद्यका सर्वथा अभाव था। इसलिये सभी लोग अपने-अपने अनुभवपूर्ण औषधोंका प्रयोग करने लगे; किंतु मेरे स्वास्थ्यमें कुछ भी सुधार न देखकर एक महाशय समीपके 'आशापुर' नामक गाँवसे ५) रुपये किरायेमें कठिनतासे एक टूटा-फूटा जीर्ण-शीर्ण देहाती एक्का ले आये, उसीपर मैं काशी चलनेके लिये पाषाणवत् अचेतन-सा बैठ गया। मेरे रक्षार्थ दो व्यक्ति मेरे साथ थे। उस समय रात्रिके १० बजे थे। चारों ओर भयंकर संनाटा छाया हुआ था। वर्षा ऋतुके कारण उमड़े हुए काले-काले बादलोंके मध्यमें चन्द्रमाके छिप जानेसे रात्रि भयंकर माळूम होती थी। ऊबड़-खाबड़ कच्ची-पक्की सड़कको कठिनतासे पार करता हुआ एक्का हमलोगोंको काशी ले आया। हम लोग अपने घर पहुँचे, उस समय रात्रिके १२ बज चुके थे। घरके सभी लोग निद्रा-देवीकी गोदमें निश्चिन्त होकर पड़े हुए थे। मेरी बीमारीकी सूचना पाकर सब लोग जाग गये। तत्काल काशीके कई अच्छे-अच्छे डाक्टरोंको बुलाया गया। आये हुए सभी डाक्टरोंकी सम्मतिसे दवाकी व्यवस्था हुई। डाक्टरोंके वापस जाते समय उनसे मेरे श्रीपिताजी (स्व० म० म० पं० श्रीविद्याधरजी गौड़) ने पूछा—'रोगी कैसी हालतमें है?' उन लोगोंने उत्तर दिया—'अभी रोग काबूके बाहर है, १२ घंटे-बाद कुछ कहा जा सकता है।'

इस संशयग्रस्त उत्तरसे सभी लोग घबरा गये और मेरे कल्याणार्थ मन-ही-मन भगवान्‌से प्रार्थना करने लगे। मुझे दवा बार-बार दी जा रही थी, परंतु कोई लाभ नहीं हुआ। 'मर्ज बढ़ता गया ज्यों-ज्यों दवा की' यह कहावत सत्य चरितार्थ हुई।

मेरे शरीरका यह हाल था कि शरीरका अङ्ग-अङ्ग अकड़ गया था, लघुशङ्का बंद हो गयी थी, प्यास चरम सीमा-

पर पहुँच चुकी थी, नाड़ी जवाब-सी देने लगी थी और चेतना-शक्ति भी लुप्तप्राय होने लगी थी। ऐसा माळूम होने लगा कि मेरे आत्माने अंशतः परलोक प्रयाण करना प्रारम्भ कर दिया है। इन सब बातोंसे मैंने अपने जीवनकी आशा छोड़ दी और मैं कवि कालिदासके—

'परलोकजुषां स्वकर्मभि-
र्गतयो भिन्नपथा हि देहिनाम्।'

(रघुवंश ८। ८४)

—इस पदकी चिन्तना करने लगा। इसी मध्यमें मुझे 'जबतक साँस तबतक आशा' का स्मरण हो गया। इसके स्मरण होते ही मैंने तत्क्षण जीवनकी आशारूपी नौकापर सवार होकर अकाल-मृत्युरूपी भवसागरसे पार होनेके लिये अत्यन्त श्रद्धा-भक्तिसे—

'श्रीराम जय राम जय जय राम'

—इस तेरह अक्षरवाले भगवन्नामके महामन्त्रका स्मरण प्रारम्भ कर दिया। भगवन्नामस्मरणके एक या दो घंटेके बाद ही गीताके—

'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्'।

—इस वचनके अनुसार की हुई प्रतिज्ञाको पूर्ण करनेवाले भक्तोंकी रक्षा करनेवाले सर्वव्यापी भगवान्‌की कृपासे मेरा मस्तिष्क काम करने लगा और स्वास्थ्यमें भी सुधार होनेका श्रीगणेश माळूम होने लगा। गीताके 'ईश्वरः सर्वभूतानाम्' के अनुसार मुझे ऐसा प्रतीत हुआ कि—'भगवान् मेरे साथ हैं और उनका वरद हस्त मेरे मस्तकपर विराजमान है। अतः निश्चित ही भगवन्नाम-स्मरणसे मुझे जीवन-दान प्राप्त होगा।' इस प्रकारकी भगवन्निष्ठा तथा भगवान्‌के निरन्तर नाम-स्मरणसे मैंने बहुत शीघ्र अकालमृत्युको जीत लिया। 'अरक्षितं तिष्ठति दैवरक्षितम्' के अनुसार प्राणरक्षा होनेपर मुझे सर्वदाके लिये भगवान्‌के नामस्मरणपर पूर्ण विश्वास और भरोसा हो गया। मैं उस समयसे नामस्मरणका विशेष अभ्यासी बन गया हूँ। मेरा दृढ़ विश्वास है कि—'भगवान्‌के नाम-स्मरणके प्रभावसे मनुष्य कठिन-से-कठिन आपत्तियोंसे निश्चित मुक्त हो सकता है।'

भगवत्कृपासे अब मेरा हृदय उत्साह एवं निर्भयतासे छलक रहा है

मेरा घर एक छोटे कस्बेमें है। प्रातःकाल नित्यकर्मसे निवृत्त हुआ ही था कि घरके बाहरसे किसीने जोरसे आवाज दी। स्वर अपरिचित था; अतएव उत्सुकताके साथ बाहरकी ओर बढ़ा। देखा—एक पुलिस-अधिकारी चार सिपाहियोंके साथ खड़े हैं। सिपाहीमात्रको देखते ही मेरे होश गुम होने लगते थे; आज पुलिस-अधिकारीको चार सिपाहियोंके साथ देखकर तो मेरा सारा शरीर पसीनेसे लथपथ हो गया और हृदय बड़े वेगसे धड़कने लगा। पर पुलिस-अधिकारीने बताया कि वे मेरे मामाके मित्र हैं और उस नाते वे मुझे अपना भानजा मानते हैं। इस स्नेह-सम्बन्धसे ही वे हमारे कस्बेमें आते ही पहले-पहल मुझसे मिलने आये हैं। मेरी धड़कन शान्त हो गयी, मुखपर प्रसन्नता छा गयी और मैंने दौड़कर पुलिस-अधिकारीके चरण-स्पर्श किये। सिपाहियोंने मुझे नमस्कार किया। पुलिस-अधिकारी अब बराबर मेरे घर आते हैं और मैं उनके घर जाता हूँ। थानेभरके सब सिपाही मेरे मित्र हो गये हैं; जहाँ भी किसी सिपाहीसे भेंट होती है तो वह सेवाके लिये पूछता है। मैंने अपने मित्रोंका भी परिचय थानेदार साहेब तथा सिपाहियोंसे करवा दिया है। अब वे लोग भी निर्भय एवं निःशङ्क विचरते हैं। मैं जबतक उन्हें भयानक मानता था, तबतक उनसे डर था। उन्होंने बतला दिया—हम तुम्हारे ही हैं और यह मानते ही मेरा भय भाग गया। इस घटनासे मुझे भगवान्‌के शब्दोंपर विश्वास हो चला है—

'सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति'—**'मैं सम्पूर्ण भूतप्राणियोंका सुहृद् (स्वार्थरहित सहज प्रेमी) हूँ,—इतना जाननेमात्रसे मनुष्य शान्तिको प्राप्त हो जाता है।'** भगवान् जब मेरे सुहृद् हैं, तब अब मुझे किससे भय? पाप, ताप, शोक, मोह, अज्ञान, निराशा, विफलता, अशान्ति—कोई भी मुझे भयभीत नहीं कर सकते; अब तो मैं इन सबके ऊपर पैर रखता हुआ अपने सत्पथपर बढ़ता जाता हूँ और अपने सम्पर्कमें आनेवालोंके भी पाप-ताप आदि नष्ट करनेका प्रयास करता हूँ।

भगवत्कृपासे अब मेरा हृदय उत्साह एवं निर्भयतासे छलक रहा है। कृष्ण—

योगवासिष्ठकी राज्य-मोक्षप्रदायिनी प्राणायाम-साधना[1]

(लेखक—पं० श्रीरामनिवासजी शर्मा)

सर्वा ऋचः सर्वे वेदाः सर्वे घोषा
एकैव व्याहृतिः प्राण एव प्राण ऋर्च इत्येव विद्यात्।[2]
(ऐत० २ । २ । १०, प्र० १२१)

भारतकी आजकी अपनी उलझनें पर्याप्त हैं। इसपर भी हम देखते हैं कि इसका अपना संस्कृत-वाङ्मय विश्व-स्तुत्य है। उसमें भी उसके योगवासिष्ठ महाग्रन्थका तो निराला स्थान-मान है। योगवासिष्ठमें निगूढ़ ज्ञान और योगके रहस्य भरे हैं। यहाँ उसकी विज्ञान-दुर्लभ और शास्त्र-दुर्लभ प्राणायाम-साधनापर कुछ विचार किया जाता है।

वह विज्ञान-दुर्लभ इसलिये है कि विज्ञानमें इस क्षणतक प्राणायामका ठीक-सा नामकरण-संस्कार भी नहीं हुआ है। फिर चाहे वह आकाश-पातालको ही नापता क्यों न रहे।[3] शास्त्र-दुर्लभ होनेका कारण यह है कि योगवासिष्ठके मतसे अभ्युदय-प्राण-राज्य और आत्मधन मोक्ष उसके अपने केवल प्राणायाम-से ही प्राप्त हो जाते हैं। प्राणायाम-साध्य इन दोनों लाभोंपर उसकी अपनी समुद्घोषणा है—

राज्यादिमोक्षपर्यन्ताः समस्ता एव सम्पदः।
देहानिलविधेयत्वात्साध्याः सर्वस्य राघव ॥ ६ ॥
(योगवासिष्ठ ६ (२) ८० । ३५)

अर्थात् प्राणायाम-साधनासे राज्य और मोक्ष दोनों प्राप्त होते हैं; परंतु होते हैं वास्तविक योगात्मक गुरुदत्त प्राणायाम-साधनासे।

प्राणायाम-साध्य तथा कथित दोनों तथ्योंपर यहाँ निम्न-लिखित शीर्षकोंके प्रश्रयमें विचार-विमर्श करनेका प्रयत्न किया जाता है—

१—प्राणायाम-साध्य—राज्य-प्राप्ति।

२—प्राणायाम-साध्य—मोक्ष-प्राप्ति।

१—यह सर्वतन्त्र स्वतन्त्र सत्य है कि शक्ति जीवन है। जीवन-संग्राम शक्तिपर ही आश्रित है। जीवन-व्यापारको सुचारु-रूपसे चलानेवाली तो बुद्धि-शक्ति ही है। दण्ड-शक्तिकी महिमा भी अपार है। शासन-प्रशासन तो दण्ड-शक्ति-प्राण ही है। सुरासुरतक दण्ड-शक्तिसे ही प्रभावित और शासित होते हैं।

तेऽपि भोगाय कल्पन्ते दण्डेनैव निपीडिताः ॥ मनुः ॥

यह कहना भी सत्य है कि शक्तिका सम्बल प्राणशक्ति ही है।

या देवी सर्वभूतेषु प्राणरूपेण संस्थिता।
नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमो नमः ॥ (दुर्गासप्तशती)

हम तो समझते हैं ब्रह्म-तेज (ब्रह्म-बल) क्षत्रियबल-विनिन्दक विश्व-व्यापिनी[5] प्राणायाम-साध्य राज्यप्राप्ति मूलक प्राणशक्तिका ही लघुतम रूप है। शक्तिमूलक इसी ब्रह्मतेजपर[6] महाभारतमें राजर्षि विश्वामित्र कहते हैं—

धिग् बलं क्षत्रियबलं ब्रह्मतेजोबलं बलम्[7]।

प्राण-शक्ति-सम्पृक्त यह बात भी विचारणीय है कि यह पिण्डगत प्राणशक्ति और ब्रह्माण्डगत प्राणशक्तिका आपसमें अविभाज्य सम्बन्ध है। ब्रह्माण्डगत प्राणशक्तिका लघुरूप देह-पिण्डगत प्राणशक्ति है और देह-पिण्डगत प्राणशक्तिका बृहद्-रूप ब्रह्माण्डगत प्राणशक्ति है[8]; परंतु प्राणायामके माध्यमसे देहपिण्डगत प्राणशक्तिद्वारा ब्रह्माण्डगत प्राणशक्ति प्रभावित और संचारित होती है।

अब कदाचित् यहाँ यह प्रश्न हो कि प्राणायाम-साध्य प्राणशक्तिके महत्त्वका परिचायक कोई प्रमाण अथवा उदाहरण भी है? इसका सदुत्तर श्रीमद्भागवतमें राजकुमार ध्रुवकी तपस्याके प्रकरणमें इस प्रकार मिलता है—

लोका निरुच्छ्वासनिपीडिता भृशं
सलोकपालाः शरणं ययुर्हरिम् ॥
(श्रीमद्भा० ४ । ९ । ८०)

यतो हि वः प्राणनिरोध आसी-
दौत्तानपादिर्मयि संगतात्मा[9] ॥
(श्रीमद्भा० ४ । ९ । ८२)

---

१. प्राणायाम, प्राणशक्ति-विकास और राज्यप्राप्तिका पारस्परिक समानतः भाव-सम्बन्ध है।

२. जितनी ऋचाएँ हैं, जितने वेद हैं, जितने घोष हैं, वे सब प्राणरूप हैं। प्राणको ही इन रूपोंमें समझना चाहिये तथा उसकी उपासना करनी चाहिये।

३. आजकल स्पूत्निक काल तो चल ही रहा है, परंतु पृथ्वीकी पाताल-स्पर्शी खुदाई भी चालू है।—धर्मयुग

४. प्राणायामका अर्थ है प्राणोंका संयम। प्राणायाममें सिद्ध होने-पर हमारे लिये मानो अनन्त शक्तिका द्वार खुल जाता है। प्रकृतिको वशीभूत करनेकी शक्ति प्राप्त करना ही प्राणायामका लक्ष्य है। (स्वामी विवेकानन्द)

५. सर्वं हीदं प्राणावृतम्। (वेद)

६. प्राणो भवेत् परं ब्रह्म जगत्कारणमव्ययम्। (वैदिक ग्रन्थ)

७. क्षत्रिय-बलको धिक्कार है। बल और शक्ति तो ब्रह्मतेज ही है।

८. सूर्योदयमें 'चक्षुर्वातः प्राणोऽन्तरिक्षमात्मा पृथ्वी शरीरम्।' 'पिण्डे सो ब्रह्माण्डे ब्रह्माण्डे सो पिण्डे'का भी यही तात्पर्य है।

९. ध्रुवजीके प्राणनिरोधसे उनके देह पिण्डगत प्राणसे समष्टिगत प्राण-की अभिन्नता हो जानेके कारण सभी जीवोंका श्वास-प्रश्वास रुक गया।

इस विषयमें यह बात भी समधिक उल्लेखनीय है कि आज भी भारतीय गिरिगुहाओंकी ज्ञान-सदृश योग-शालाओंमें प्राणोपासनाके उपासक विद्यमान हैं। योगिराज श्रीविशुद्धानन्द-जी परमहंस भी प्राणायाम-साध्य प्राण-निरोध-साधनाके विशेषज्ञ थे। महामहोपाध्याय श्रीगोपीनाथजी कविराज एम्० ए०, डी० लिट्० कृत श्रीश्रीविशुद्धानन्द-प्रसङ्ग ग्रन्थमालामें उसका एक उदाहरण है।* स्वर्गीय स्वामी श्रीविवेकानन्दजीने प्राण-शक्तिपर बोलते हुए अमेरिकामें अपने भाषणमें एक बार कहा था—

जब साधक प्राण-शक्तिको समझ लेता है और उसपर अपना आधिपत्य स्थापित कर लेता है, तब सूर्य और तारोंको उनके अपने स्थानसे विचलित कर सकता है। इतना ही नहीं अपितु परमाणुसे लेकर बड़े-बड़े सूर्योंपर उसका आधिपत्य हो जाता है। स्वामीजीके एतद्विषयक अपने शब्द ये हैं—

One understood the Prana perfectly, and could control it. What power on earth could there be that would be his. He would be able to move the sun and stars out of their places to control every thing in the universe, from the atoms to biggest suns because he would control the Prana.

यहाँ यह कहते हुए भी संतोष होता है कि अब आधुनिक पर-प्रत्ययनेयमति विद्वान् भी प्रकारान्तरसे इस प्राण-शक्तिपर विश्वास करने लगे हैं। प्रमाणार्थ एक विद्वान्के इस विषयके शब्द निम्नलिखित हैं—

All visible and invisible happenings in the universe are under the influence of cosmic impulse (the prana)†

यहाँ यह कहना भी अविकल सत्य है कि प्राणायाम-साध्य प्राण-शक्तिसे न केवल राज्य और बड़े-बड़े साम्राज्य अपितु सभी लोकालोक राज्योंपर भी साधकका नियन्त्रण हो सकता है।

२. प्राणायाम-साध्य—मोक्ष-प्राप्ति।

प्राणायाम-साध्य मोक्ष-प्राप्तिके दो प्रकार हैं—

(क) प्राणायाम-साध्य प्राण-मन-शान्ति और मोक्ष-प्राप्ति।

(ख) प्राणायाम-साध्य मल-विशुद्धि और मोक्ष-प्राप्ति।

प्राणायामद्वारा प्राणोंके संरुद्ध और शान्त हो जानेपर मन शान्त होकर आत्म-भावको प्राप्त हो जाता है। इसीका नाम योगवासिष्ठके मतसे परमपद और मोक्ष है। योगवासिष्ठकार इस सत्यको कितनी अच्छी शैलीमें समझाते हैं—

'पंखेकी हवाकी गति पंखेपर निर्भर है। पंखेके शान्त हो जानेपर हवाकी गति शान्त हो जाती है; वैसे ही मनकी गति प्राणोंपर निर्भर है। अतएव प्राणायामद्वारा प्राणके शान्त होनेपर मन शान्त हो जाता है[१०]।'

'द्रव्यकी छायाकी गति द्रव्यानुसारिणी है, तथैव मनकी गति भी प्राणानुसारिणी है; अतः प्राणायामद्वारा प्राणके शान्त होनेपर प्राणरूपी मन भी विलीन हो जाता है[११]।'

'प्राणायामद्वारा प्राणके संरोधित और शान्त होनेसे मन शान्त हो जाता है। मनके शान्त होनेपर संसार विलीन हो जाता है। यही मुक्ति और मुक्तावस्था है[१२]। योगवासिष्ठकार-का यह भी मत है कि—

'चैत्य (दृश्य) मुक्तचित्त (आत्मा) मन कहलाता है वही मन चैत्य (दृश्य) मुक्त होकर सनातन ब्रह्म कहलाता है[१३]।'

योगवासिष्ठका यह भी स्पष्ट मत है कि—

प्रबुद्ध साधकोंका मन ब्रह्म ही है अन्य नहीं[१४]।

मोक्ष-प्राप्ति आत्मलाभ (मोक्ष) का प्रबल हानिकर कारण मल है जो स्वभावतः आत्मलाभ-विनाशक और आत्मभाव-विस्मारक है एवं मनुष्यको लक्ष्य-भ्रष्ट करनेवाला भी—

स्फुरत्यात्मविनाशाय विस्मारयति तत्पदम्।
मिथ्याविकल्पजालेन तन्मलं परिकल्पते॥
(यो० वा० ३। ९६। २६)

किंतु प्राणायाम निसर्गतः मलनाशक और आत्मभाव प्रकाशक है—

प्राणायामेनैव सर्वे प्रशुद्ध्यन्ति मला इति।
आचार्याणां तु केषांचिदन्यत्कर्म न सम्मतम्।[१५]

---

* एक बार प्राणायामद्वारा जब स्वामीजीके साधना-कक्षका वायु-मण्डल विक्षुब्ध हो गया था, तब उससे वहाँ एक छिपा हुआ मनुष्य आसन्न-मृत्यु हो गया; किंतु स्वामीजीकी कृपासे बच सका।

† संसारकी सभी दृश्य और अदृश्य घटनाएँ प्राणके आधिपत्य-में ही होती हैं।

१०. तालवृन्तस्य संस्पन्दे शान्ते शान्तो यथानिलः।
प्राणानिलपरिस्पन्दे शान्ते शान्तं तथा मनः॥
यो० वा० ६। (१) ६९। ४१)

११. प्राणशक्तौ निरुद्धायां मनो राम विलीयते।
द्रव्यच्छाया नु तद् द्रव्यं प्राणरूपं हि मानसम्॥

१२. तस्मिन् संरोधिते नूनमुपशान्तं भवेन्मनः।
मनःस्पन्दोपशान्त्यायं संसारः प्रविलीयते॥
(यो० वा० ५। ७८। १६)

१३. चेत्येन रहिता यैषा चित् तद् ब्रह्म सनातनम्।
चेत्येन सहिता यैषा चित् सेयं कलनोच्यते॥
(यो० वा० ५। ३। ५३)

१४. प्रबुद्धानां मनो राम ब्रह्मैवेह हि नेतरम्। (यो० वा०)

१५. अनेक आचार्य तो मलनाश और आत्मभावका कारण एकमात्र प्राणायामको ही मानते हैं। किसी अन्यको नहीं।

ततः क्षीयते प्रकाशावरणम्[१६] । (पा० यो०)
तपो न परं प्राणायामात्[१७]
ततो विशुद्धिर्मलानाम्[१८]
दीप्तिश्च ज्ञानस्य ।[१९] (व्यासभाष्य)

यहाँ यह कहना भी असत्य नहीं है कि समानतः राज्य और मोक्षप्राप्तिका कारण योगवासिष्ठोक्त प्राणायामके सिवा दूसरा सहजमें दृष्टिगोचर नहीं होता । किस विज्ञसे यह बात छिपी हुई है—कि प्राणायामके वैशिष्ट्यका ही यह कारण है कि आर्य-संस्कृतिमें प्रातः, मध्याह्न, सायं दिनमें तीन बार संध्यावन्दनके समय प्राणायामका विधान है ।

हम देखते हैं आज भी निष्कारण षडङ्गसहित वेदोंका अध्ययन करनेवाले भी लोकालोकसाधक और कुण्डलिनी शक्ति[२०]-विकासक प्राणायाम करते हैं और यह भी समझते हैं कि—

(१) प्राणायामके बिना संध्या निष्फल हो जाती है ।

(२) प्राणायाम अनोखा बल और शक्ति है ।

(३) जैसे अग्निद्वारा उत्तप्त होनेपर धातुओंका मल धुल जाता है, वैसे ही प्राणवायुके निग्रहसे इन्द्रियोंके समस्त दोष नष्ट हो जाते[२१] हैं ।

(४) प्राणायामको करनेवाला साधक जो भी चाहे करे एवं कुछ भी खाये किंतु वह कर्तृत्व-दोषसे असंस्पृष्ट रहता है[२२] ।

यहाँ उपसंहारमें इतना-सा कहना ही पर्याप्त होगा कि अभ्युदय-धन प्राण-विद्या समस्त लौकिक दुःखक्षयकरी और सौभाग्यशालिनी है एवं जीवनका कारण भी ।

सर्वदुःखक्षयकरी सर्वसौभाग्यवर्धिनी ।
कारणं जीवितस्येह प्राणचिन्ता समाश्रिता ॥
(यो० वा० ६ (१) । १ । २४ । ८)

प्राणायाम-साध्य, प्राण-विद्या लौकिक लाभके साथ-साथ पारमार्थिक लाभ और आत्मभावकी भी हेतु है—

निगीर्णौ बहिरन्तश्च देशकालौ च पश्य तौ ।
क्षणमस्तं गतप्राणमपानोदयवर्जितम् ॥
(यो० वा० ६ (१) २५ । ५८)

अयत्नसिद्धबाह्यस्थं कुम्भकं तत्पदं विदुः ।
अयत्नसिद्धो ह्यन्तःस्थकुम्भकः परमं पदम् ॥
(यो० वा० ६ (१) २५ । ५९)

एतत्तदात्मनो रूपं शुद्धैषा परमैव चित् ।
एतत्तत्सदाभासमेतत् प्राप्य न शोच्यते ॥[२३]
(यो० वा० ६ (१) २५ । ६०)

इस अयत्नसिद्ध प्राणायामका विश्लेषणात्मक और संतोष-प्रद तथा विलक्षण एक सुखद प्रकार यह भी है—

रेचकं पूरकं त्यक्त्वा सुखं यद् वायुधारणम् ।[२४]

इतनेसे योगवासिष्ठोक्ति निम्नलिखित राजमोक्षमूलक प्राणायाम-साधना स्पष्ट हो जाती है ।

राज्यादिमोक्षपर्यन्ताः समस्ता एव सम्पदः ।
देहानिलविधेयत्वात्साध्याः सर्वस्य राघव ॥
(यो० वा० ६ (१) ८० । ३५)

---

१६. प्राणायामद्वारा आत्मप्रकाशावरण दूर हो जाता है ।

१७. प्राणायामसे बढ़कर दूसरा तप नहीं है ।

१८. प्राणायामसे मल नष्ट होते हैं ।

१९. प्राणायामसे आत्मज्ञान होता है ।

२०. कन्दोर्ध्वं कुण्डलीशक्तिः सुप्ता मोक्षाय योगिनाम् । बन्धनाय च मूढानां यस्तां वेत्ति स योगवित् ॥
कुण्डली कुटिलाकारा सर्पवत्परिकीर्तिता । सा शक्तिश्चालिता येन स मुक्तो नात्र संशयः ॥

२१. दह्यन्ते ध्मायमानानां धातूनां तु यथा मलाः । तथेन्द्रियाणां दह्यन्ते दोषाः प्राणस्य निग्रहात् ॥

२२. एते निरोधमायान्ति प्रकृत्यातिचलानिलाः । यत् करोति यदश्नाति बुद्ध्यैवाबालमनुस्मरन् ॥ योग० वा० ॥

२३. फलितार्थ यह है कि—
अयत्नसिद्ध प्राणायाममें प्राण-अपानके अभावकी दशाका नाम कुम्भक है । इस अवस्थामें साधकको आत्माके शुद्ध रूपका अनुभव होता है और वह क्लेशमुक्त हो जाता है ।

२४. जो साधक विधिवत् प्राणायामका अभ्यास करते हैं उनके श्वासकी ऊर्ध्व-अधःगतिका शेष हो जाता है । प्राण उस समय सुषुम्णाके मध्यसे होकर मस्तकमें जाकर स्थिर हो जाता है । प्राणायामके द्वारा जब सुषुम्णामें प्राणोंकी गति होती है, तब 'सहजावस्था' प्राप्त होती है और उसके बाद निर्विकार स्वरूपमें स्थिति हो जाती है । इसलिये योगियोंने चित्तस्थितिके लिये प्राणायामको सर्वश्रेष्ठ उपाय बतलाया है ।

विशेष योगवासिष्ठगत प्राणायाम, प्राण-विद्या, प्राणशक्ति एवं मनस्तत्त्व द्रष्टव्य है । यह भी ध्यान रहे कि प्राणायामसे ही राज्य-मूलक (अभ्युदय-प्राण) भौतिक प्राण-शक्तिकार मोक्ष-धन आध्यात्मिक प्राण-शक्तिका समानतः विकास होता है । स्वामी विवेका-नन्द तो यह भी कहते हैं कि प्राणायामके अभ्याससे कुण्डलिनी जाग्रत् हो जाती है और साधकके लिये अनन्त ज्ञान और शक्तिका द्वार खुल जाता है । फिर उसे बाहरसे इन दोनोंको प्राप्त करनेकी आवश्यकता नहीं रह जाती ।

पढ़ो, समझो और करो

(१)

भला ऊँटवाला

कुछ पुरानी बात है। राजस्थानमें उस समय ऊँट चलते थे। कलकत्ते, बम्बईसे आने-जानेवाले लोगोंको पचासों कोस ऊँटोंपर यात्रा करके रेल पकड़नी पड़ती थी। एक भाई कलकत्तेसे लौटे और उन्होंने नावाँ (कुचामन रोड) में एक अपरिचित ठाकुरका ऊँट भाड़े किया। बीमारीके कारण अचानक विचार हो गया, इससे जल्दीमें आना पड़ा था, इसलिये अपने घरको समाचार लिखकर परिचित व्यक्तिका ऊँट वे नहीं मँगा सके थे। दो लड़कियोंके विवाहके लिये कपड़ा-लत्ता, गहना तथा नगद सात हजार—कुल पंद्रह हजारका सामान साथ था। सामान ऊँटके बोरेमें रक्खा गया। उसपर वे भाई सवार हुए। उन्हें तीन दिन सफर करके घर पहुँचना था। पहली पंद्रह कोसकी मंजिल तो ठीक निभ गयी। वे लोसलमें आकर ठहरे। वहाँसे दूसरे दिन चले। गरमीकी मौसिम थी, इसलिये रातको ऊँटकी यात्रा की जाती थी। दैवकी लीला। रास्तेमें उनके पेटमें भयानक दर्द उठा, समीप एक छोटे-से गाँवमें पेड़के नीचे ऊँट ठहराया गया। वे भाई उतरे। वहाँ रातको कहाँ कोई वैद्य मिलता। उनके पास लौंग थी, ऊँटवालेने आगका प्रबन्ध करके लौंगका काढ़ा बनाकर दिया। परंतु दर्द बढ़ता ही गया और इसी दर्दमें दो-तीन घंटे बाद वहीं उनकी मृत्यु हो गयी। गाँववाले बड़े अच्छे लोग थे। सबने सहायता की। वहाँसे एक ऊँट लेकर गाँवका आदमी साथ चला और उनके सामानवाले ऊँटपर उनकी लाश बाँधी गयी। ऊँटवालेसे गाँवके एक आदमीने कहा—'कुछ माल-ताल पास हो तो लेकर चम्पत क्यों नहीं हो जाता। लाश फूँककर घर चला जा।' उसने कहा—'भाई! ऐसी बात मनमें आना भी पाप है। इन्होंने मुझपर विश्वास करके अपना हजारोंका मालमता तथा अपनी जान मेरे भरोसे छोड़ दी। ये तो मर ही गये। अब इनके सामानको लूटकर मैं इनके घरवालोंको भी मार दूँ। भगवान् सब देखते हैं। वे मेरे इस पापको कैसे सहन करेंगे। मुझे भी बड़ा दुःख है, तुमने ऐसी पापकी बात मुझसे कही ही कैसे, तुम्हारे मनमें यह पाप-भावना पैदा ही क्यों हुई और मैं इसे सुन भी कैसे सका। मालूम होता है मेरे मनमें कहीं जरूर कोई पाप छिपा है, तभी तुम मेरे सामने ऐसी पापकी बात कह सके और तभी मैं सुन सका।' गाँववालोंने यह सुनकर ऊँटवालेकी बड़ी सराहना की और उस आदमीको धिक्कारा। लाश उनके घर पहुँची। घरवालोंके दुःखका पार नहीं रहा, पर जब कीमती सामान तथा नगद रुपयोंकी थैलियोंको ज्यों-का-त्यों पाया, तब उनके शोकमें भी एक हर्षकी लहर उठी। उन्होंने ऊँटवालेके प्रति बड़ी ही कृतज्ञता प्रकट की, उसे इनाम देना चाहा। पर उसने भाड़ेके सिवा एक पैसा भी अधिक नहीं लिया। और कहा कि मेरे साथ ये जो गाँवका एक भाई आया है, इसको भले ही कुछ दे दिया जाय। पर उसने भी लेनेसे इन्कार किया। पड़ोसीके यहाँ रोटी-राबड़ीकी व्यवस्था की गयी। उसीको खाकर दोनों विदा हो गये। धन्य!

—चेतराम शर्मा

(२)

पढ़ाईकी लगन

एक दिन सबेरे साढ़े दस बजे अंदाज मैं बम्बईके सेंट-जेवियर्स कालेजके पाससे जा रहा था। कालेजके बाहर दरवाजेके पास दो नौजवान विद्यार्थी बात कर रहे थे। उनमेंसे एकने मेरी ओर देखा और हँसता हुआ मेरे पास आकर मुझसे बोला—'नमस्ते भाई! पहचानते हो या भूल ही गये?'

मैंने उसको अच्छी तरह देखा और मेरी स्मृति पूरे पाँच वर्ष पीछे पहुँच गयी। मैं बोल उठा—'अरे, १९५५ में हरद्वारमें हमलोग साथ थे, वह चन्द्रकान्त तो नहीं हो?'

'हाँ, वही! हरद्वारमें अपने अगल-बगल ही ठहरे थे, फिर वहाँसे साथ ही देहरादून तथा मंसूरी गये थे'—उसने उत्तर दिया।

मुझे याद आ गया—उस समय वह किशोर चन्द्रकान्त आज जवान हो गया है। उस समय तो यह हाई स्कूलके अन्तिम वर्षमें पढ़ रहा था।

फिर तो चन्द्रकान्त मुझसे बहुत-सी बातें कह गया। मेरे कुटुम्बके लोग हरद्वारमें मेरे साथ थे, उन सबके कुशल-समाचार पूछे और अपने कुटुम्बके समाचार बताये। फिर अचानक अपनी घड़ीकी ओर देखकर बोला—'दादा! क्षमा करना, मैं जरा इकोनोमिक्सका पेपर लिख आऊँ। तुमसे फिर मिलूँगा' इतना कहकर वह हँसता हुआ कालेजकी ओर चला।

'जरा पेपर लिख आऊँ' इस 'जरा' शब्दपर जोर देकर मैं उससे पूछ बैठा।

'हाँ, मेरी फाइनल बी० ए० की परीक्षा चल रही है। मैं यहाँ पेपर देने ही आया हूँ।' तो क्या तुम्हें परीक्षाकी चिन्ता नहीं है? दूसरे विद्यार्थियोंकी भाँति तुम अन्तिम घड़ी-तक अध्ययन नहीं करते? क्या 'नर्वस' नहीं हो जाते? या फिर पास ही नहीं होना है, जो कहते हो जरा पेपर लिख आऊँ।' मैं एक ही सपाटेमें इतने प्रश्न पूछ गया।

'नहीं दादा! मैं परीक्षाकी चिन्ता नहीं करता। वर्षके आरम्भमें ही मैं ध्यानपूर्वक अध्ययनमें लग जाता हूँ। परीक्षाके समय तो खूब आरामसे सोता हूँ और आनन्दमें रहता हूँ और हँसी-खेलमें ही पेपर लिख आता हूँ। इतनेपर भी तुम्हारे-जैसे बड़ोंकी दयासे प्रतिवर्ष अच्छे नंबरोंसे ही पास होता आ रहा हूँ।' इतना कहकर एक मोहक हास्य बिखेरता हुआ, 'फिर मिलना' कहकर मेरी ओर हाथ हिलाता हुआ वह कालेजकी ओर दौड़ गया।

'जरा पेपर लिख आऊँ'—ये शब्द मेरे दिमागमें रम गये। हमारा अधिकांश विद्यार्थिसमूह तो पूरा वर्ष भटकता हुआ मौज-शौक और उल्टी-सीधी प्रवृत्तियोंमें ही बिता देता है। फिर परीक्षाके समय रातों जागकर स्वास्थ्य बिगाड़ता है और परीक्षाके दिन तो 'नर्वस' हो जाता है, 'टीप्स' के लिये इधर-उधर दौड़-धूप करता है। अन्तकी पाँच मिनटतक भी हाथसे पुस्तक नहीं उतारता और इतनेपर भी अच्छा परिणाम नहीं प्राप्त कर सकता। हमारे ऐसे विद्यार्थी चन्द्रकान्तके उदाहरणसे शिक्षा लेकर शुरूसे ही अभ्यासमें नियमितरूपसे लग जायँ और हँसी-खेलमें धीरेसे कहें कि 'जरा पेपर लिख आऊँ' तो कैसा अच्छा हो। (अखण्ड आनन्द)—गोपालदास

(३)

श्रद्धा-विश्वासका फल

बात १९५५ की है तब मैं कोटामें रहता था, हमारे पड़ोसमें ही एक कृष्णा नामकी विधवा स्त्री रहा करती थी। आँखें मुँदी-मुँदी; श्वेत वस्त्र धारण किये वह साध्वी एकदम ज्योतिर्मयी साधना-सी ही प्रतीत होती थी। वह मुझे भगतजी कहा करती थी। न जाने क्यों, मुझ-जैसे अधमके लिये ऐसा सम्बोधन! पर खैर, एक बार उसका एकलौता बेटा बीमार पड़ा, सख्त बीमार। घरमें उसकी माँ, वह और उसका पुत्र तीन ही थे। माँको कार्यवश किसी विवाहमें जाना था। अतएव वह उसे दवा देकर यह कहकर चली गयी कि हर दो घंटेसे दे देना। मैंने कहा—'घरपर मैं रह जाऊँगा' पर कृष्णाने कहा—'नहीं आप कष्ट न करें, जब आवश्यकता होगी मैं आवाज दे लूँगी।' मैं घर आ गया, माँ चली गयी। प्रमोद बुखारसे जल रहा था, वह कुछ देर तो बैठी रही, फिर एकाएक उठकर प्रभुके सिंहासनके पास गयी और सिंहासन लेकर छतपर आ गयी और चरणोंमें लिपट गयी तथा आर्त-कण्ठसे पुकार करने लगी। वहीं उसे नींद आ गयी। प्रातः ६ बजे मैं उनके घर गया। उसी समय उसकी माँ आ गयी, पर कृष्णा दिखायी न दी। हम ऊपर गये तो वह सोयी थी। उसकी माँने जगाया, पूछा—'क्यों दवा दे दी थी न प्रमोदको?' 'नहीं माँ!' माँने डाँटा—एक तो बेटा है और तू नेह नहीं रखती, हे भगवन्! जाने वह जिन्दा भी है या नहीं।' उसने उसे बहुत कुछ बुरा-भला कहा। उसने कहा—'माँ! रखनेवाला तो वह है, मेरे जतन करनेसे क्या होता है' और वह दौड़ पड़ी अपने पुत्रके पास। हम सब गये तो प्रमोद सो रहा था और बुखार नाममात्रको भी नहीं थी। भगवान्ने बुखार चुरा ली थी। वह दौड़कर ठाकुरके पास गयी और चरणोंसे लिपट गयी। सारा सिंहासन आँसुओंसे तर हो गया। तबसे बाद जबतक मैं वहाँ रहा, मैंने देखा उसका सिर भी नहीं दुखा और अब तो उस प्रमोदका विवाह भी हो गया है। 'कुन्दन'

(४)

सच्ची साधुता

गत १९५७ अप्रैलकी बात है। संत श्री·······अपने साथ चार अन्य भक्तजनोंको और मुझको लेकर चारों धाम यात्राके लिये गये थे। श्रीजगन्नाथजीके दर्शनोपरान्त हम कलकत्तासे हरिद्वारका सीधा टिकट लेकर हवड़ा स्टेशनसे देहरादून एक्सप्रेसमें हरद्वार-हवड़ाके डिब्बेमें जाकर बैठे। गाड़ी चल पड़ी। डिब्बा पूरा भरा हुआ था, सभी लंबी सफरवाले मुसाफिर थे। यद्यपि डिब्बा १७ आदमियोंके लिये था पर उसमें सब ५४-५५ यात्री थे। ऊपरकी सीटें भी सामानसे भरपूर थीं। नजदीक उतरनेवाला कोई न था।

जब मुरादाबाद स्टेशन आया, तब वहाँसे दो यात्री तरुण दम्पति सुविधाजनक डिब्बा ढूँढ़ते हुए हमारे डिब्बेके पास आये, त्यों ही गाड़ीने छूटनेकी सीटी दी। उन्होंने उकताये हुए हमारे डिब्बेकी खिड़कीमें शीघ्रतासे बिस्तरा ढकेला और स्त्रीको उठा उसी खिड़कीसे डिब्बेमें उतारा। नीचे लोग बैठे थे। बिस्तरा और स्त्री उनके ऊपर जा पड़े। वे स्वयं भी खिड़कीसे घुसकर चढ़ गये; गाड़ी चल पड़ी। हमलोगोंने उनसे कुछ भी नहीं कहा; क्योंकि हमें तीर्थयात्राके नियमोंका पालन करना आवश्यक था। यात्रामें क्रोधादि नहीं करना चाहिये। अतः हमारी मण्डली धर्मव्यवस्थित थी। बड़ी भीड़ थी। कहीं भी जगह नहीं थी, बिस्तर ऊपर पड़नेसे लोगोंने उनसे बिस्तरा हटानेके लिये कहा। नवयुवकने उसे उठा लिया। नवयुवक थक चुके थे। संत श्री·····ने उनकी स्त्रीको अपनी जगह बैठनेको दी। वे स्वयं ज्यों ही खड़े हुए कि नवयुवकने बिस्तरा संतजीके सिरपर रख दिया। मैंने उनको ऐसा न करनेके लिये कहा, इसका परिणाम विपरीत हुआ। नवयुवकने धक्का-मुक्की की। अब बिस्तरपर अपना और सामान भी संतजीके सिरपर रख दिया। लोगोंने हटाया। नवयुवकको समझानेकी चेष्टा की, पर विवाद बढ़ता रहा। गाड़ी कुछ घंटोंमें **हरद्वार**

जा पहुँची। सभी उतरे। शान्त-मूर्ति संत श्री······प्लेटफार्म-पर उतरे। सभीने अपना-अपना सामान सँभाला। नवयुवक सपत्नीक नीचे खड़े थे। संतजीने पूछा—'कहो भाई! कुछ सेवा है?' वे दम्पति चिन्तित थे; क्योंकि उन्होंने गाड़ीमें हड़बड़ाहटमें टिकटें कहीं गिरा दी थीं। पता नहीं था कहाँ गिरीं।' हमारा डिब्बा हरद्वारतकका ही था, अतः वह कटकर इंजनद्वारा खींचा जा रहा था।

नवयुवकने कहा—'महाराज! टिकट खो गया।' संतजीने कहा—'भाई! अच्छी तरह तलाश करो।' नवयुवकने कहा—'तुमने ही टिकट ली हैं, दे दो, नहीं तो पुलिसके हवाले करूँगा?' संतजीने कहा—'भले ही; परंतु आपको याद है कि टिकटें कहाँतक थीं और कब-कहाँ खोयीं?' लोग सुन रहे थे। किसीने कहा डिब्बेमें तो गिरीं नहीं? मेरेसे रहा न गया, मैंने कहा—'भले आदमी! संतजीने तुम्हें जगह दी, बिस्तर उठाया, भला-बुरा सुना और परिणाममें यह अपराध लगा रहे हो?'

हमारी बातचीत हो रही थी, इसी बीच संतजी उक्त डिब्बेकी तलाशमें गैरेजकी ओर गये जहाँ डिब्बा काटकर छोड़ा गया था। उस डिब्बेमें दो-तीन आदमी बैठे थे जो रेल्वे कर्मचारी थे, जो इंजनके साथ डिब्बे जोड़ने-छोड़नेका काम करते हैं। उनसे संतजीने पूछा, उन्होंने तलाश की। ढूँढ़नेपर टिकटें मिल गयीं, संतजी उनको ले आये।

मैं उन नवयुवकसे कह रहा था 'भाई! किसी सज्जन व्यक्तिपर यों लाञ्छन लगाना उचित नहीं है।' काफी लोग इकट्ठे हुए थे, संतजीने लाकर टिकटें दीं और डिब्बेमें गिरनेकी बात बतायी, फिर कहा—'और कुछ सेवा हो तो कहें! हमें श्रीबद्रीनारायण जाना है। २-३ दिन हरद्वारमें रहेंगे। हमारा पता—श्रीसुदर्शन आश्रम स्टेशनरोड, हरिद्वार है।' वे रिक्शामें बैठे, चले गये और हम सुदर्शन-आश्रममें जाकर टिके।

दूसरे दिन वैशाखी स्नान बड़े समारोहसे हो रहा था। रास्तों, घाटों और स्नानस्थलोंपर पुलिसकी व्यवस्था थी। आने-जानेके लिये अलग-अलग रास्ते नियत थे। हम आश्रमसे सुबह ९ बजे स्नानार्थ हरकी पैड़ी जा रहे थे, तो आगे रास्तेमें ऋषिकेश क्रॉस रोडपर वही नवयुवक अकेले ही मिले। संतजीने पूछा—'कहो महाशयजी, कुशलपूर्वक हो न?' नवयुवकने कहा—'क्या बताऊँ, एक आपत्ति हो तो कहूँ—नृसिंहभवनमें ठहरनेके लिये कोठरी नहीं मिली, वहीं बाहर ही पड़े हैं। स्त्रीको रातसे गुर्दा-दर्द (आन्त्रिक वृक्कशूल) हो गया है। बड़ी बेचैनी है। मैं थैला ले स्नानको हर पैड़ीपर गया था, वहाँ थैला ही कोई उठा ले गया। उसीमें पैसे थे। बड़ा परेशान हूँ।'

संतजीने कहा—'तो कुछ सेवा करूँ?' नवयुवकने दस रुपयेकी याचना की। संतजीने झट निकालकर दे दिये और मुझको आदेश दिया कि 'आप इनके साथ जायँ, स्त्रीकी योग्य चिकित्सा करें।' मैंने आदेशानुसार उन नवयुवकको साथ लेकर सुदर्शन-आश्रमसे अपनी दवाकी पेटी ली और फिर नृसिंह-भवनमें उनकी स्त्रीको अच्छी तरहसे देखा। उन्हें इंजेक्शन दिया और गोलियाँ देकर मैं हरकी पैड़ी हमारी मण्डलीसे आ मिला। श्रीगङ्गाजीका स्नानकर नित्यनियममें प्रवृत्त हो, पूजापाठसे निपटकर १ बजे वापस लौटे। रास्तेमें ही नृसिंह-भवन पड़ता है। अतः उनसे मिले, उनकी पत्नीके दस्त-पेशाब खुल गया था। वह स्वस्थ-सी दिखायी देती थी। हमें देखकर दोनों नत-मस्तक मिले और अपने पूर्वकृत बुरे बर्तावके लिये अनुनय-विनय करने लगे। वे करुणभावमें सराबोर थे। संतजीने कहा—'भाईजी! हमें भगवान्‌ने आपकी तुच्छ सेवाका सौभाग्य दिया, यद्यपि हम इस लायक नहीं थे। आप कुछ दुःख न मानें। मनुष्यको जीना है तो मनुष्य ही नहीं, बल्कि प्राणिमात्रकी सेवाके लिये जीना है, न कि अजागलस्तनकी भाँति, 'आप क्या कार्य करते हैं?' संतजीने पूछा। तब उन्होंने कहा—'मैं राज्य-तहसील कर्मचारी हूँ। बी० ए० हूँ और यह भी पढ़ी-लिखी है।' 'बहुत अच्छा' संतजीने कहा—'और कुछ सेवा बताइये?' नवयुवकने कहा—'प्रभु! हमारी सुबुद्धिके लिये कुछ नियम बतावें ताकि हमारे जीवनका कल्याण हो। मैं आपका कृतज्ञ हूँ।

संतजी—'लीजिये, यह गीता और रामायणका गुटका। आप दोनों सुशिक्षित हैं, अतः इन्हें ध्यानपूर्वक पढ़ें और मनन करें। संत-समागम किया करें। गीताप्रेसकी धार्मिक सस्ती पुस्तकें पढ़ा करें। इससे आपका कल्याण होगा। भगवान् आपको सद्बुद्धि दें।' नवयुवक—'संतजी! आपसे मैं गङ्गा-यात्राके उपलक्ष्में प्रतिज्ञा करता हूँ कि अब कभी ऐसी उद्दण्डता नहीं करूँगा और आपके आदेशोंका प्राणपणसे पालन करूँगा।'

बादमें हम अपने स्थानपर लौट आये। वे सुखी होकर अपने गन्तव्य स्थानपर चले गये।

संतश्री··की इस सच्ची साधुता, नम्रता, सहिष्णुता और सर्वहित-बुद्धिका मुझे आज दिनतक स्मरण है। वास्तवमें हमें सबके साथ सहानुभूतिपूर्ण सद्व्यवहार करना चाहिये। स्वार्थके वशीभूत होकर अमानुषी-व्यवहार कभी नहीं करना चाहिये। (डाक्टर—एस० आर० डी०)

पाँच नयी पुस्तकें ! *प्रकाशित हो गयीं !!*

श्रीमद्वाल्मीकीय रामायण (हिंदीभाषान्तरसहित)

[दो भागोंमें]

आकार २२×३० आठपेजी, पृष्ठ-संख्या १७२०, चित्र तिरंगे १२, इकरंगे ४८, कपड़ेकी जिल्द, दो जिल्दोंमें मूल्य १७.५० मात्र । डाकखर्च अलग ।

प्रारम्भमें नम्र निवेदनके रूपमें एक उपयोगी भूमिका, पाठ-विधि और स्कन्दपुराणोक्त रामायण-माहात्म्य भी दिया गया है । बहुत समयसे जनताकी यह माँग थी कि गीताप्रेससे श्रीमद्वाल्मीकीय रामायणको सानुवाद पुस्तकाकारमें प्रकाशित किया जाय । इसके लिये अनेक प्रेमी सज्जन बारंबार आग्रह करते थे । भगवान् श्रीरामकी असीम अनुकम्पासे अब यह महान् कार्य पूर्ण हो सका है; अतः जिन्हें लेना हो, वे कृपापूर्वक शीघ्र मँगवा लें ।

श्रीमद्वाल्मीकीय रामायण (केवल भाषा)

आकार २२×३० आठपेजी, पृष्ठ-संख्या ११००, चित्र बहुरंगे १२, इकरंगे ४८, पूरे कपड़ेकी जिल्द, मूल्य ११) मात्र । डाकखर्च अलग ।

हिंदीभाषाभाषी सज्जनोंके लिये श्रीमद्वाल्मीकीय रामायणका यह सम्पूर्ण भाषानुवाद श्लोकाङ्कसहित प्रकाशित किया गया है । इसके प्रारम्भमें भी नम्र निवेदनके रूपमें एक उपयोगी भूमिका, पाठविधि और रामायण-माहात्म्य दिया गया है ।

श्रीमद्वाल्मीकीय रामायण (केवल मूल)

आकार २२×३० आठपेजी, पृष्ठ-संख्या ७४०, चित्र बहुरंगे ७, पूरे कपड़ेकी जिल्द, मूल्य ७.५० मात्र । डाकखर्च अलग ।

संस्कृत-भाषाविज्ञोंके लिये इस ग्रन्थका केवल मूल संस्करण प्रकाशित किया गया है । पाठ-विधि और रामायण-माहात्म्य आदि इसमें भी दिये गये हैं ।

श्रीमद्वाल्मीकीय रामायण (केवल सुन्दरकाण्ड—मूलमात्र)

आकार २२×३० आठपेजी, पृष्ठ-संख्या ९२, श्रीहनुमान्‌जीका सुन्दर तिरंगा चित्र, मूल्य .७५, सजिल्द १.५० । डाकखर्च अलग ।

अधिकतर लोग सुन्दरकाण्डके पाठका अनुष्ठान करते हैं, अतः उनके लाभार्थ इस काण्डको अलग पुस्तकाकारमें प्रकाशित किया गया है और इसके आरम्भमें अनुष्ठान-विधि भी लगा दी गयी है । आशा है, जनता इससे लाभ उठायेगी ।

श्रीमद्भगवद्गीताके कुछ श्लोकोंपर विवेचन

(ले०—श्रीहरिकृष्णदासजी गोयन्दका)

आकार २०×३० सोलहपेजी, पृष्ठ-संख्या ६०, मूल्य .२०, डाकखर्च .८, रजिस्ट्री .५०, कुल .७८ ।

लेखक महोदयने समय-समयपर गीताके कुछ महत्त्वपूर्ण श्लोकोंपर जो विचार व्यक्त किये हैं, उन्हींका संग्रह इस छोटी-सी पुस्तिकाके रूपमें प्रकाशित किया जा रहा है । इसमें सात्त्विक बुद्धि, कर्मफलके आश्रयका त्याग, भगवान्‌का प्यारा भक्त और भगवान्‌की शरणागति—इन चार विषयोंपर विवेचन किया गया है । पुस्तक बड़ी उपादेय है ।

पुस्तक-विक्रेताओंको सभी पुस्तकोंपर नियमानुसार कमीशन दी जाती है । अतः ग्राहकोंसे निवेदन है कि वे यहाँ आर्डर देनेसे पहले अपने पुस्तक-विक्रेताओंसे ही पुस्तकोंको प्राप्त करनेका प्रयत्न करें । इससे उनको भारी डाकखर्चकी बचत होगी ।

व्यवस्थापक—**गीताप्रेस, पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)**

रजि० सं० ए० १७५

जनगणनाके विषयमें निवेदन

अब शीघ्र ही जनगणना होनेवाली है। कार्य आरम्भ हो गया है। इसमें संख्या, जाति, धर्म, भाषा आदि लिखानेमें विशेष सावधानी रखनी चाहिये। इस समय धर्म और हिंदू जातिपर चारों ओरसे आक्रमण हो रहे हैं। जन-संख्या तथा धर्म एवं भाषावालोंकी बड़ी संख्या भी इस आक्रमणसे बचनेका एक प्रधान साधन है। अतएव संख्या पूरी लिखायी जाय। हिंदू सब अपनेको हिंदू लिखावें—चाहे वे किसी भी सम्प्रदायके हों। सनातनधर्मी अपना 'सनातनधर्म' लिखावें, प्रधान भाषा हिंदी और दूसरी भाषा संस्कृत लिखावें। जहाँ हिंदी न हो, वहाँ अपनी प्रान्तीय भाषा लिखावें। इसमें भूल न करें। यह हमारा सबसे विनीत निवेदन है।

प्राचीन हस्तलिखित ग्रन्थोंको भेजिये

गीताप्रेसमें सुरक्षाके लिये प्राचीन हस्तलिखित ग्रन्थोंका संग्रह किया जा रहा है। अतएव जिन सज्जनोंके पास वेद, वेदाङ्ग, ज्यौतिष, दर्शन, उपनिषद्, पुराण, इतिहास, तन्त्र, काव्य आदि विषयोंकी प्राचीन हस्तलिखित सचित्र या अचित्र संस्कृत और हिंदीकी पुस्तकें हों और जो उनको सुरक्षित रखना चाहते हों, वे रेल या डाक पारसलसे अच्छी तरह पैक करके कृपापूर्वक पुस्तकें भेज दें। (पुस्तकें नागरी, बँगला या गुजराती किसी भी लिपिमें लिखी हों) डाक या रेल-खर्च गीताप्रेससे दिया जायगा। ऐसी पुस्तकोंमें कोई अप्रकाशित पुस्तक उपयोगी जान पड़नेपर आगे चलकर सुविधानुसार प्रकाशित भी की जा सकती है।

—हनुमानप्रसाद पोद्दार, गीताप्रेस, गोरखपुर

'महा भारत' के बंद करनेकी सूचना तथा प्रार्थना

'महा भारत' मासिक पत्रका प्रकाशन गत पाँच वर्षोंसे हो रहा है। अबतक इसमें सम्पूर्ण महाभारत, हरिवंश पुराण, जैमिनीयाश्वमेधपर्व, सनत्सुजातीय शाङ्करभाष्य और सम्पूर्ण वाल्मीकीय रामायण हिंदी-भाषानुवादसहित प्रकाशित हो चुके हैं। आगामी वर्ष अग्निपुराण और नरसिंह-पुराणके प्रकाशनकी बात सोची जा रही थी; परंतु विशेष परिस्थितिवश वह विचार छोड़ देना पड़ा और यह निश्चय किया गया कि 'महा भारत' मासिक पत्रका प्रकाशन एक बार बंद कर दिया जाय। तदनुसार खेदके साथ यह सूचना देनी पड़ रही है।

हम अपनी इस वर्तमान विवशताके लिये क्षमा चाहते हैं और ग्राहक महोदयोंसे प्रार्थना करते हैं कि वे आगामी वर्षके लिये 'महा भारत' का मूल्य कृपया न भेजें।

मासिक महा भारतके पाँचों वर्षोंकी पूरी फाइलें एक साथ लेनेपर विशेष रियायत

'मासिक महा भारत'के अङ्कोंका मूल्य वर्ष-क्रमके अनुसार इस प्रकार है—

मासिक महाभारत वर्ष—१ अङ्क १ से १२,	मूल्य २०.००	सजिल्द	तीन जिल्दोंमें	२३.७५
मासिक महाभारत वर्ष—२ अङ्क १ से १२,	मूल्य २०.००	,,	,, ,,	२३.७५
मासिक महाभारत वर्ष—३ अङ्क १ से १२,	मूल्य २०.००	,,	,, ,,	२३.७५
मासिक महाभारत वर्ष—४ अङ्क १ से १२,	मूल्य १५.००	,,	दो ,,	१७.५०
मासिक महाभारत वर्ष—५ अङ्क १ से १२,	मूल्य १५.००	,,	दो ,,	१७.५०
	कुल जोड़ ९०.००	सजिल्द		१०६.२५

उपर्युक्त पाँचों वर्षोंके सम्पूर्ण अङ्क एक साथ मँगानेपर डाकखर्च हमारा तथा १५.०० प्रतिशत कमीशन भी दिया जायगा। प्रेमी महानुभाव मूल्य मनीआर्डरद्वारा भेजकर मँगानेकी कृपा करेंगे।

व्यवस्थापक—महा भारत-विभाग, पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)